महान् चरित्र

लेखक

पू. पंन्यासप्रवर श्री रत्नसेनविजयजी गणिवर्य

महान्-चरित्र

*** लेखक ***

जिनशासन के महान् ज्योतिर्धर,
परम शासन प्रभावक, महाराष्ट्र देशोद्धारक
पू.आ. *श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.* के
तेजस्वी शिष्यरत्न बीसवीं सदी के महान् योगी,
नवकार-विशेषज्ञ, प्रशांतमूर्ति पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के
कृपापात्र अंतिम शिष्यरत्न, मरुधररत्न, गोड़वाड़ के गौरव,
प्रवचन-प्रभावक, हिन्दी साहित्यकार पूज्य पंन्यासप्रवर
श्री रत्नसेनविजयजी गणिवर्य

129

प्रकाशक

दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन 47, कोलभाट लेन, ऑ. नं. 5,
डॉ. एम.बी. वेल्कर लेन, ग्राउंड फ्लोर,
मुंबई-400 002. © 2203 45 29
Resi. : 2684 0562
Mobile : 98920 69330

ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SHREE MAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba, Gandhinagar - 382 007
Ph. : (079) 23276252, 23276204

आवृत्ति-पहली • मूल्य Rs. 35/-
विमोचन : 6-7-2008 कल्याण
चातुर्मास प्रवेश दिन

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 2000 रु.

- आप जैन धर्म के रहस्य - जैन इतिहास - जैन तत्त्वज्ञान - जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों, तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। आजीवन सदस्यों को अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक पू. पंन्यासश्री रत्नसेन विजयजी म. सा. का उपलब्ध हिन्दी साहित्य प्रतिमास प्रकाशित अर्हद् दिव्य संदेश एवं भविष्य में प्रकाशित हिन्दी साहित्य घर बैठे पहुँचाया जाएगा। आप मुंबई या बेंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चेक, ड्राफ्ट से रकम भर सकोगे।

प्राप्ति स्थान

1. दिव्य संदेश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन
47, कोलभाट लेन, ऑ.नं.5,
डॉ. एम.बी. वेल्कर लेन,
मुंबई-400 002. ✆ 2203 4529

2. प्रकाश बडोल्ला M. 9448277435
मुरली मार्केट, पहला माला,
20, डी. के. लेन,
बेंगलोर - 560 053. (कर्णाटक)
✆ 080-2226 3081

3. चंदन एजेंसी M. 9820303451
607, चीरा बाजार, ग्राउंड फ्लोर,
मुंबई - 400 002.
✆ R. : 2206 0674 O. 2205 6821

4. चेतन हसमुखलालजी मेहता
पवनकुंज, 303, A Wing,
नाकोड़ा हॉस्पिटल के पास,
भायंदर-401 101. ✆ 2814 0706
M. 9867058940

4. राहुल बैद M. 9810353108
C/o. अरिहंत मेटल कं.,
4403, गली लोटन जाटवाडी,
पहारी-धीरज, दिल्ली-110006.

आजीवन सदस्यता शुल्क Rs. 2000/- भिजवाने का पता :

दिव्य संदेश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन,
47, कोलभाट लेन, ऑ. नं. 5,
डॉ. एम.बी. वेल्कर लेन,
ग्राउंड फ्लोर, मुंबई-400 002.
✆ 2203 45 29 Mob. : 98920 69330

दिव्य संदेश प्रचारक
प्रकाश बड़ोल्ला
मुरली मार्केट, 20, डी.के. लेन,
1st Floor, चिकपेट,
बेंगलोर-560 063
✆ 2226 3081

गुरूवर तुम हो परम उपकारी

परम शासन प्रभावक, जिनशासन के महान ज्योतिर्धर
महाराष्ट्र देशोद्धारक स्व. पूज्यपाद आचार्यदेव

श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

गुरुवर तुम हो परम उपकारी

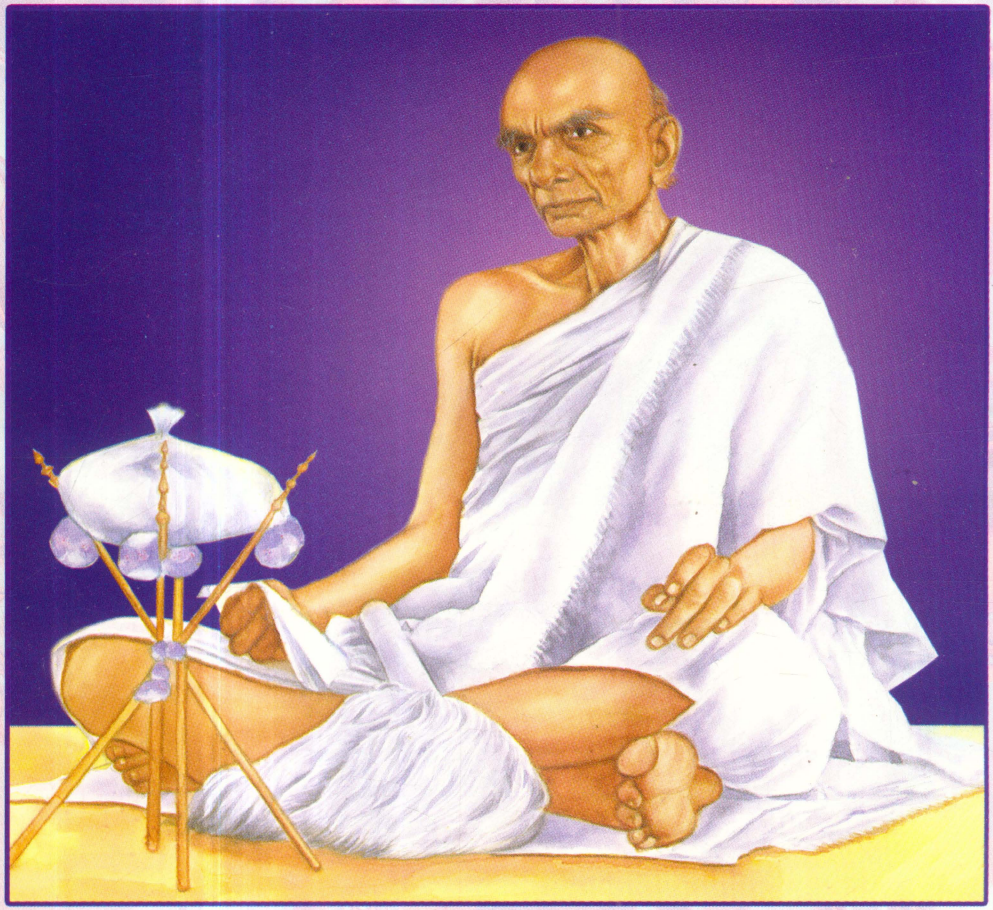

बीसवीं सदी के महान्योगी
तत्वचिंतक निःस्पृह शिरोमणि पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य

गुरुवंदना

गोडवाड के गौरव, प्रवचन प्रभावक एवं
हिन्दी साहित्यकार पूज्य पंन्यासप्रवर
श्री रत्नसेनविजयजी गणिवर्य

प्रकाशन सहयोगी

अतिथि - परिवार

राजस्थान जैन संघ - डोंबिवली (पूर्व) के तत्वावधान में आयोजित सामुदायिक वर्षीतप की निर्विघ्नतया पूर्णाहूति निमित्त सामूहिक वर्षीतप के आयोजन में नि:स्वार्थ सेवा देने वाली सुश्राविकाएँ

फेन्सीबेन
उदयराजजी कांकरीया

पानीबेन
रामरतनजी छाजेड

जेठीबेन
पुखराजजी चोपडा

रतनबेन
मिलापजी जैन

मंजुबेन
तेजराजजी पालरेचा

लेखक की कलम से...

'महान् व्यक्तियों का जीवन चरित्र, अनेकों के जीवन को चारित्रवान् बनाता है ।' इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर भूतकाल में अनेक प्रतिभा संपन्न आचार्य भगवंतों ने भूतकाल में हुए अनेक महापुरुषों के जीवन चरित्रों का आलेखन किया है । संस्कृत और प्राकृत भाषा में अनेक चरित्र ग्रंथ आज भी विपूल प्रमाण में उपलब्ध है । गुजराती भाषा में भी ऐसे साहित्य की कमी नहीं है परंतु हिन्दी भाषा में इस प्रकार के साहित्य की बहुत बडी कमी है ।

बाल जीवों को धर्मबोध देने के लिए भी इन चरित्र ग्रंथों का उपयोग करते हैं । प्रवचनों में भावना-अधिकार में इन चरित्र-ग्रंथों का ही आलंबन लिया जाता है ।

★ जब जब भी ब्रह्मचर्यव्रत की बात आती है, तब नेमिनाथ प्रभु की याद अवश्य आती है । अपने लग्न जीवन के प्रसंग पर निर्दोष जीवों की हिंसा को जानकर नेमिनाथ प्रभु ने लग्न जीवन का निषेध कर दिया था । जीवरक्षा के ध्येय से उन्होंने राजीमति के साथ नौ-नौ भवों से चली आ रही प्रीत को भी तोड डाला था । नेमिनाथ प्रभु के ९ भवों के इस चरित्र में उनके जीवन के अनेक प्रसंगों का संकलन किया गया है ।

ये प्रसंग हमें जीवन जीने की सुंदर प्रेरणाएं
देते है ।

★ 32 वर्ष की लघुवय में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का स्वीकार करनेवाले महामंत्री पेथडशाह का चरित्र भी रोमांचित कर देनेवाला है। अमाप संपत्ति के मालिक होने पर भी मन-वचन और काया से निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन करना, यह कोई जैसी-तैसी साधना नहीं है। पेथडशा महामंत्री की परमात्म-भक्ति की साधना भी जगमशहूर है। उनका जीवन चरित्र भी अवश्य पठनीय और आदर्शरुप है, जिससे हमें बहुत सुंदर प्रेरणाएं मिलती है।

इन चरित्रों का पठन-पाठन और स्वाध्याय हमें सन्मार्ग की राह दिखाते है। बस, इन चरित्रों से प्रेरणा प्राप्तकर सभी सन्मार्ग की ओर आगे बढे, इन्ही शुभ कामनाओं के साथ।

सुपार्श्वनाथ जैन मंदिर
नवीचाल,
भिवंडी (M.S.)
ता. 18-5-2008

निवेदक
अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव
पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी
गणिवर्य चरण चंचरिक
रत्नसेनविजय

प्रकाशक की कलम से...

गोडवाड के गौरव एवं मरुभूमि के रत्न

पूज्य पंन्यास प्रवर श्री रत्नसेनविजयजी म.सा. का संक्षिप्त परिचय

पूज्य पंन्यास प्रवर **श्री रत्नसेनविजयजी म.सा.** गोडवाड के गौरव, मरुभूमि के रत्न, बाली संघ की शान, चोपडा कुल के भूषण तथा पिता श्रीमान् छगनराजजी एवं माताजी श्रीमती चंपाबाई के कुल दीपक है। इनका सांसारिक नाम **राजमल चोपडा** था, परन्तु उन्हें **'राजु'** के लाडिले नाम से पुकारा जाता था। आज भी वे गोडवाड की जनता के लिए तो **'राजु महाराज'** के नाम से ही प्रख्यात है।

पूज्य श्री का जन्म भादो सुदी 3 दिनांक 16-9-1958 के शुभ दिन हुआ था। माता का नाम चंपाबाई और पिता का नाम छगनराजजी चोपडा है।

इनकी प्रारंभिक शिक्षा हायर सेंकडरी तक बाली में तथा 1st Year, B.Com. का शिक्षण S.P.U. College फालना में हुआ था। राजु को धार्मिक शिक्षण व संस्कार मिले श्रीमान् आनंदराजजी गेमावत से। बचपन से ही सूक्ष्म व तीक्ष्ण प्रज्ञा के कारण व्यवहारिक शिक्षण में उनका हमेशा प्रथम स्थान रहा। ई. सन् 1975 में राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय-बाली में 600 विद्यार्थियों के बीच राजु को **'सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी'** का पारितोषिक मिला था। जिला-स्तरीय निबंध-वक्तृत्व आदि स्पर्धाओं में भी विशेष स्थान प्राप्त किया था। इसके साथ ही धार्मिक पाठशाला में भी हमेंशा प्रथम स्थान रहा। तत्वज्ञान विद्यापीठ-पूना की प्रारंभिक परीक्षा में भारत भर में पहला स्थान प्राप्त किया था।

बचपन में राजु के दिल में महत्वाकांक्षा थी `आगे चलकर C.A. करना, उद्योगपति या राजनेता बनना।' परंतु अपने ही पडौसी, पूर्णतया-स्वस्थ भीकमचंदजी की अकाल मृत्यु तथा नदी के पानी में डूबने में हुई दो बाल मित्रों की करुण मौत के दृश्य को देखकर राजु को आयुष्य की क्षण भंगुरता के प्रत्यक्ष दर्शन हुए और उसके मन में वैराग्य भाव का बीजारोपण हुआ।

अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत, सत्संग एवं उनके द्वारा प्रदत्त **'शांतसुधारस'** की अनित्य एवं अशरण भावना के गुजराती विवेचन के स्वाध्याय तथा **'धर्मदेशना'** पुस्तक में वर्णित चार गतियों के भयंकर दुःखों का वर्णन पढने से राजु की वैराग्य भावना और दृढ बनती गई।

एक वर्ष के कॉलेज शिक्षण दरम्यान भी राजु की वैराग्य भावना लेश भी खंडित नहीं हुई, बल्कि कॉलेज के साथ पूज्य गुरुदेव श्री के समागम से उसकी वैराग्य भावना तीव्र-तीव्रतर होती गई।

वि.सं. 2030 में बाली में मुमुक्षु कमलाबहिन की भागवती दीक्षा विधि का महोत्सव चल रहा था। रात्रि में संघ की ओर से आयोजित मुमुक्षु के बहुमान समारोह में राजु भी उपस्थित था। मुमुक्षु के वैराग्यपूर्ण संवाद आदि को सुनकर राजु के मन में तीव्र वैराग्य भाव पैदा हुआ।

राजु ने अपने दिल की बात पू.मु. श्री प्रद्योतनविजयजी म. को कही । पूज्य मुनिराज श्री ने राजु की भावना को प्रोत्साहित किया और इस संदर्भ में विशेष मार्गदर्शन हेतु राजु को घाणेराव में बिराजमान अध्यात्मयोगी नि:स्पृह शिरोमणि पूज्यपाद **पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी म.सा.** के पास भेजा ।

अध्यात्मयोगी महापुरुष के दर्शन-वंदन कर राजु का हृदय खुशी से भर गया । मानव जीवन को सफल बनाने एवं संयम की निर्मल साधना हेतु पूज्य पंन्यासजी म.सा. ने राजु को सुंदर मार्गदर्शन दिया ।

धार्मिक पाठशाला में राजु ने पंच प्रतिक्रमण आदि का अभ्यास तो किया ही था, इसके साथ प.पू. विद्वद्वर्य **मु. श्री जितेन्द्रविजयजी म.सा.** एवं प.पू. विद्वद्वर्य **मु. श्री गुणरत्नविजयजी म.सा.** की तारक निश्रा में ई.सन् 1974 और 1975 मेंआयोजित **'ग्रीष्म कालीन आध्यात्मिक ज्ञान शिबिर** में दो बार भाग लेकर जैन दर्शन के तत्वज्ञान, आवश्यक क्रिया के सूत्र रहस्य, जैन इतिहास, जैन भूगोल, कर्मवाद आदि का ज्ञान प्राप्त किया । इसके फलस्वरूप राजु की वैराग्य भावना और दृढ बनी ।

यद्यपि दीक्षा के लिए घर में अनुकूल वातावरण नहीं था, फिर भी दृढ मनोबल से वैराग्यमार्ग में आनेवाले अवरोधों का सामना किया, जिसके फलस्वरूप आखिर में राजु के माता-पिता ने पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में रहने के लिए अपनी सम्मति प्रदान की ।

वि.सं. 2031 व 2032 में पूज्य गुरुदेवश्री के बेडा एवं लुणावा चातुर्मास में साथ में रहकर ज्ञानाभ्यास किया और संयम जीवन की ट्रेनिंग ली । डेढ वर्ष के अपने मुमुक्षु पर्याय में उपधान तप, वर्धमान तप का पाया एवं 12 ओली, 20 दिवसीय एक लाख नवकार जाप साधना, पैदल-विहार के साथ साथ चार प्रकरण, तीन भाष्य, छ कर्मग्रंथ तत्वार्थ, वीतराग स्तोत्र, योग शास्त्र, पंच सूत्र, संस्कृत की दो बुक आदि का भी सुंदर अभ्यास किया ।

राजमल के दिल में उत्कट वैराग्य था तो दूसरी ओर माता-पिता के अन्तर्मन में रहे मोह के बंध को तुडवाना सरल काम नहीं था, इस भगीरथ कार्य में सफलता पाने के लिए राजमल ने भी दृढ संकल्प कर लिया था ! मोह के बंधन को तोडने में राजमल के सफल मार्गदर्शक बने थे अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य । उनका मार्गदर्शन और आशीर्वाद न होता तो शायद राजमल को सफलता नहीं मिल पाती ।

दि. 7 जनवरी 1977 के शुभ दिन मुमुक्षु राजमल अपने पिताजी शा छगनराजजी चोपडा और पंडितजी हिम्मतभाई (जो बाली में साधु-साध्वीजी को संस्कृत-प्राकृत और न्याय सिखाते थे ।) के साथ बाली से बस द्वारा लुणावा आए । उस समय अध्यात्मयोगी पूज्य पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी म.सा. लुणावा में विराजमान थे ।

वंदनविधि और औपचारिक बातचीत के बाद मुमुक्षु राजमल के पिताजी का एक ही स्वर था-राजमल की दीक्षा 1-2 वर्ष बाद की जाय ।

उस समय भविष्यदृष्टा पूज्यश्री ने अपना मौन तोडते हुए एक ही बात कहीं.... 'राजु

अब तैयार हो चूका हैं, अब ज्यादा देर करने जैसी नहीं हैं ।'

महापुरुष के थोडे से शब्दों में भी अपूर्व शक्ति रही होती है । वे बोलते कम है और काम ज्यादा होता है ।

बस, अध्यात्मयोगी युगमहर्षि महापुरुष के अल्प शब्दों ने छगनराजजी के मन पर जादुई असर किया और उन्होंने परिवार के अन्य किसी भी सदस्य से बातचीत किए बिना तत्काल पूज्यश्री को अपने सुपुत्र की भागवती-दीक्षा के लिए अपनी सम्मति प्रदान कर दी ! यह था पुण्यपुरुष के अल्पशब्दों का गजब का प्रभाव ! और उसी समय पूज्य गुरुदेव श्री ने दीक्षा का मुहुर्त भी प्रदान कर दिया । माघ शुक्ला त्रयोदशी विक्रम संवत् 2033 के शुभ दिन मुमुक्षु राजमल की भागवती दीक्षा निश्चित हो गई ।

पूज्य गुरुदेवश्री की ही असीम कृपा से जन्मभूमि **बाली** में **वर्धमान तपोनिधि पू. पंन्यासप्रवर श्री हर्षविजयजी म.** के वरद हस्तों से मुमुक्षु ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । वे अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव श्री के अंतिम शिष्य बने और वे मुनि श्री रत्नसेनविजयजी म. के नाम से पहिचाने जाने लगे ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद परम तपस्वी पू.पं. श्री हर्षविजयजी म.सा. के सानिध्य में लगभग 3 वर्ष तक पाटण में ग्रहण व आसेवन शिक्षा अंगीकार की । संस्कृत-प्राकृत व्याकरण के साथ न्याय, काव्य, प्रकरण ग्रंथ, कर्मग्रंथ, विविध दर्शन, जैन-आगम आदि का गहन अभ्यास किया ।

प्रभावक प्रवचन शैली : विक्रम संवत् 2033 में उनकी भागवती दीक्षा हुई । ठीक 14 मास के बाद वर्धमान तपोनिधि पूज्य पंन्यासप्रवर श्री हर्षविजयजी म.सा. की शुभ निश्रा में वि.सं. 2034 फाल्गुण शुक्ला चतुर्दशी के दिन पाटण में उनका सबसे पहला प्रवचन हुआ । पूज्य गुरुदेवश्री के शुभाशीष उनके साथ थे, अतः वह प्रवचन अत्यंत ही प्रभावक रहा । उसके बाद वि.सं. 2036 से उनकी पर्युषण प्रवचनमाला एवं वि.सं. 2038 में बाली से उनके चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ हो गए थे । वह प्रवचन गंगा आज भी निरंतर बह रही है ।

श्रोताओं की अंतरंग योग्यता को परखकर, शास्त्रीय पदार्थ को खूब सरल व रोचक शैली में समझाने की कला उन्हे हासिल हुई है । इसके द्वारा वे अनेकों के जीवन परिवर्तन में निमित्त बने है ।

प्रभावक साहित्य सर्जन : वि.सं. 2038 में पूज्य मुनिश्री ने अपने स्वर्गस्थ गुरुदेव श्री के जीवन परिचय के रुप में **'वात्सल्य के महासागर'** पुस्तक का आलेखन किया था, तब से उनकी लेखन यात्रा निरंतर जारी है । उनकी लेखनी में सरलता हैं, रोचकता है और धारा प्रवाह है । उनके द्वारा आलेखित साहित्य पाठकों के अन्तर्गत को इस प्रकार छू लेता हैं कि एक बार पुस्तक प्रारंभ करने के बाद उसे छोडने का मन ही नहीं होता है । साहित्य के विविध विषयों पर उनकी लेखनी चली है, जो आज भी गतिमान है ।

परम पूज्य उपकारी गुरुदेवश्री के कालधर्म के बाद पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य भगवंत, एवं समतानिधि पू. पंन्यास श्री वज्रसेनविजयजी म.सा. की आज्ञानुसार पाली,

रतलाम, अहमदाबाद, पिंडवाडा, उदयपुर, जामनगर, गिरधरनगर, सुरेन्द्रनगर, थाणा, कल्याण, दादर, सायन, धुलिया, कराड, चिंचवड स्टे., भायंदर, पूना, येरवडा, कालाचौकी (मुंबई) श्रीपालनगर मुंबई, कर्जत (जिला रायगढ़ M.S.) भिवंडी आदि क्षेत्रों में चातुर्मास कर दैनिक व जाहिर प्रवचनों के माध्यम से अनेकविध आराधनाएँ कराई है ।

पूज्य मुनिश्री की प्रेरणा से थाणा में 109 सिद्धितप व 160 सामुदायिक वर्षीतप की आराधनाएँ हुई थी ।

अपनी प्रवचन कुशलता के साथ साथ मात्र 24 वर्ष की उम्र में **'वात्सल्य के महासागर'** से प्रारंभ हुई उनकी लेखनी अबाधगति से आगे बढ़ रही है । पूज्य पंन्यासजी म.सा. की अभी तक 129 पुस्तकें प्रकाशित हो चूकी है और अभी भी वह सर्जन यात्रा चालू ही है ।

तप साधना में पूज्य मुनिश्री अपने 32 वर्ष के संयम पर्याय में लगभग नियमित एकाशना करते हैं और प्रत्येक सुद पंचमी को ज्ञान की आराधना निमित्त उपवास करते है ।

पिडवाडा, गिरधरनगर, थाणा, कल्याण, दादर, सायन, धूलिया, कराड, भायंदर, चिंचवड स्टे. पूना, येरवडा, श्रीपालनगर तथा भिवंडी में वाचना-श्रेणी का आयोजन कर सैंकडों नवयुवकों के जीवन को संस्कारित किया है ।

'अर्हद् दिव्य संदेश' मासिक के माध्यम से पूज्य मुनिश्री के चिंतानात्मक लेख-प्रवचन-उपदेश पिछले 18 वर्षों से नियमित प्रकाशित हो रहे हैं ।

अनेकों को धर्मबोध देने वाले पूज्य मुनिश्री रत्नसेनविजयजी म.सा. को शासन प्रभावक प्रशांतमूर्ति पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय महोदयसूरीश्वरजी म.सा. की आज्ञानुसार वैशाख वदी 6, वि.सं. 2055 में चिंचवड (पूना) में गणि पद से अलंकृत किया गया और शासन प्रभावक पूज्य गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय हेमभूषणसूरीश्वरजी म.सा. की आज्ञानुसार कार्तिक वदी 5 वि.सं. 2061 के शुभ दिन श्रीपालनगर मुंबई में पंन्यास पद से अलंकृत किया गया ।

अत्यंत ही सरल, रोचक व प्रभावपूर्ण प्रवचनशैली के द्वारा वे श्रोताओं के अन्तर्मन को छू लेते है । उनके उपदेश से अनेक भूले भटकें युवानों को नई दिशा प्राप्त हुई है ।

वे कुशल विवेचनकार भी है । सामायिक सूत्र, चैत्यवंदन सूत्र, आलोचना सूत्र, श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र, आनंदघन चोबीसी, आनंदघनजी के पद, पू. यशोविजयजी म. की चोबीसी, अमृतवेल की सज्झाय आदि के ऊपर उन्होंने खूब सुंदर व सरलशैली में विवेचन भी लीखा हैं ।

वे कुशल अवतरणकार भी है । जैन रामायण और महाभारत पर दिए गए उनके, जाहिर प्रवचनों का उन्होंने स्वयं ने आलेखन भी किया है । तथा अपने गुरुदेव एवं प्रगुरुदेव के प्रवचनों का सुंदर शैली में अवतरण भी किया है ।

वे कुशल भावानुवादक हैं-शांत सुधारस, श्राद्धविधि, गुणस्थानक क्रमारोह, प्रथम

कर्मग्रंथ, जीव विचार, नवतत्त्व, दंडक, तीन भाष्य आदि प्राचीन ग्रंथों का उन्होंने सरस भावानुवाद एवं विवेचन भी किया है ।

वे प्रभावक कथा-आलेखक भी हैं-कर्मन् की गत न्यारी (महाबल-मलयासुंदरी चरित्र) आग और पानी (समरादित्य चरित्र) कर्म को नहीं शर्म (भीमसेन चरित्र) तब आंसु भी मोती बन जाते है (सागरदत्त चरित्र) कर्म नचाए नाच (तरंगवती चरित्र) जैसे अनेक चरित्र ग्रंथों का उपन्यास शैली में आलेखन भी किया है ।

वे प्रसिद्ध चिंतक भी है । प्रवचन मोती, प्रवचन रत्न, चिंतन मोती, प्रवचन के बिखरे फूल, अमृत की बुंदे, युवा चेतना जैसे प्रकाशनों में उनके हृदय स्पर्शी चिंतन भी प्रस्तुत हुए है ।

वे कुशल प्रवचनकार भी है- सफलता की सीढ़ियाँ, श्रावक कर्तव्य, नवपद प्रवचन, प्रवचन-धारा, 'आनंद की शोध' में उनके प्रवचनों का सुंदर संकलन है ।

वे प्रसिद्ध कहानीकार भी हैं- प्रिय कहानियाँ, मनोहर कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ, मधुर-कहानियाँ, प्रेरक कहानियाँ और सरस कहानियाँ आदि में उन्होंने अत्यंत ही सुंदर हृदयस्पर्शी कहानियों का आलेखन किया है ।

जैन शासन के ज्योतिर्धर, महान् ज्योतिर्धर, तेजस्वी सितारें, गौतमस्वामी-जंबुस्वामी आदि में उन्होंने जैन शासन के महान् प्रभावक पुरुषों के जीवन चरित्रों का सुंदर आलेखन भी किया है ।

वे कुशल संपादक भी है-युवाचेतना विशेषांक, जीवन निर्माण विशेषांक, आहार विज्ञान विशेषांक, श्रावकाचार विशेषांक, श्रमणाचार विशेषांक, सन्नारी विशेषांक, राजस्थान तीर्थ विशेषांक जैसे अनेक विशेषांकों का सफल संपादन भी किया है ।

हमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास है कि पूज्य श्री द्वारा आलेखित पूर्व प्रकाशनों की भांति प्रस्तुत प्रकाशन भी अवश्य लोकोपयोगी सिद्ध होगा ।

उनके उपदेश से अनेक संघों में अनेकविध तपश्चर्याएं, अनेकविध भाव-यात्राएँ, तप-जप आदि अनुष्ठान, उपधान, प्रतिष्ठा, छ'री पालित संघ, उद्यापन, जीवित महोत्सव आदि संपन्न हुए है । उनके द्वारा आलेखित साहित्य भारत भर के हिन्दी भाषी क्षेत्रों में खूब चाव से पढा जाता है ।

सन्मार्ग की राह बतानेवाला उनका साहित्य अनेकों के लिए सफल मार्गदर्शक बना है । उनका साहित्य नूतन प्रवचनकारों के लिए भी खूब उपयोगी बना है । पंन्यास पदारुढ होने के बाद उनके वरद हस्तों से जिन शासन की सुंदर प्रभावनाएँ हो रही है ।

शासनदेव से हमारी यही प्रार्थना है कि पूज्यश्री चिरायु बने और उनके वरद हस्तों से जिनशासन की निरंतर प्रभावनाएँ होती रहे ।

निवेदक

दिव्य संदेश प्रकाशन ट्रस्ट मंडल–मुंबई

प्रवचन प्रभावक मरुधररत्न-हिन्दी साहित्यकार
पूज्य पंन्यासप्रवर श्री रत्नसेनविजयजी म.सा. का
बहुरंगी-वैविध्यपूर्ण साहित्य

	तत्त्वज्ञान विषयक	S.No.
1.	जैन विज्ञान	38
2.	चौदह गुणस्थानक	96
3.	आओ ! तत्त्वज्ञान सीखे	79
4.	कर्म विज्ञान	102
5.	नवतत्त्व विवेचन	122
6.	जीव विचार विवेचन	123
7.	तीन भाष्य	127

	प्रवचन साहित्य	S.No.
1.	मानवता तब महक उठेगी	8
2.	मानवता के दीप जलाएं	9
3.	महाभारत और हमारी संस्कृति-भाग-1	18
4.	महाभारत और हमारी संस्कृति-भाग-2	19
5.	रामायण में संस्कृति का अमर संदेश-भाग 1	27
6.	रामायण में संस्कृति का अमर संदेश-भाग 2	28
7.	सफलता की सीढ़िया	53
8.	नवपद प्रवचन	56
9.	श्रावक कर्तव्य-भाग-1	74
10.	श्रावक कर्तव्य-भाग-2	75
11.	प्रवचन रत्न	78
12.	प्रवचन मोती	72
13.	प्रवचन के बिखरे फूल	103
14.	प्रवचन धारा	67
15.	आनंद की शोध	33
16.	भाव श्रावक	85
17.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	97
18.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	104
19.	संतोषी नर सदा सुखी	87
20.	जैन पर्व प्रवचन	115
21.	गुणवान् बनो	126
22.	विखुरलेले प्रवचन मोती	117

	धारावाहिक कहानी	S.No.
1.	कर्मन् की गत न्यारी	6
2.	जिंदगी जिंदादिली का नाम है	10
3.	आग और पानी भाग-1	34
4.	आग और पानी भाग-2	35
5.	मनोहर कहानियाँ	50
6.	ऐतिहासिक कहानियाँ	57
7.	तेजस्वी सितारें	58
8.	जिनशासन के ज्योतिर्धर	81
9.	प्रेरक कहानियाँ	91
10.	मधुर कहानियाँ	98
11.	महासतियों का जीवन संदेश	93
12.	आदिनाथ शांतिनाथ चरित्र	105
13.	सरस कहानियाँ	111
14.	पारस प्यारो लागे	99
15.	शीतल नहीं छाया रे	25
16.	आवो वार्ता कहुं	63
16.	महान् चरित्र	129

	युवा-युवति प्रेरक	S.No.
1.	युवानो जागो	12
2.	जीवन की मंगल यात्रा	17
3.	तब चमक उठेगी युवा पीढी	20
4.	युवा चेतना	23
5.	युवा संदेश	26
6.	जीवन निर्माण विशेषांक	30
7.	The Message for the youth	31
8.	How to Live true life	40

9.	यौवन सुरक्षा विशेषांक	32
10.	सन्नारी विशेषांक	59
11.	माता-पिता	77
12.	आहार क्यों और कैसे ?	82
13.	आहार विज्ञान	39
14.	ब्रह्मचर्य	106
15.	Duties Towards Parents	95
16.	क्रोध आबाद तो जीवन बरबाद	80
17.	राग म्हणजे आग	108
18.	आई वडिलांचे उपकार	92
19.	अमृत की बुंदे	64
20.	The Light of Humanity	21
21.	Youth Will shine then	121

अनुवाद-विवेचनात्मक		S.No.
1.	सामायिक सूत्र विवेचना	2
2.	चैत्यवंदन सूत्र विवेचना	3
3.	आलोचना सूत्र विवेचना	4
4.	श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र विवेचना	5
5.	चेतन ! मोहनींद अब त्यागो	11
6.	आनंदघन चोबीसी विवेचन	7
7.	अंखियां प्रभुदर्शन की प्यासी	22
8.	श्रावक जीवन दर्शन	29
9.	भाव सामायिक	107
10.	आनंदघनजी पद विवेचन	94
11.	भाव चैत्यवंदन	120
12.	विविध पूजाएं	125

विधि-विधान उपयोगी		S.No.
1.	भक्ति से मुक्ति	41
2.	आओ ! प्रतिक्रमण करें	42
3.	आओ ! श्रावक बने	45
4.	हंस श्राद्धव्रत दीपिका	48
5.	Chaitya Vandan Sootra	42
6.	विविध देववंदन	55
7.	आओ ! पौषध करें	71
8.	प्रभु दर्शन सुख संपदा	84
9.	आओ ! पूजा पढाएं	88
10.	Panch Pratikraman Sootra	61
11.	शत्रुंजय यात्रा	36
12.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	73
13.	आओ ! उपधान पौषध करें	109
14.	विविध तप माला	128

अन्य प्रेरक साहित्य		S.No.
1.	वात्सल्य के महासागर	1
2.	रिमझिम रिमझिम अमृत बरसे	15
3.	अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव	44
4.	बीसवीं सदी के महान् योगी	100
5.	महान ज्योतिर्धर	86
6.	मिच्छामि दुक्कडम्	60
7.	क्षमापना	69
8.	सवाल आपके जवाब हमारे	37
9.	शंका-समाधान-I	66
10.	जैनाचार विशेषांक	47
11.	जीवन ने जीवी तुं जाण	62
12.	धरती तीरथ'री	68
13.	चिंतन रत्न	116
14.	अमरवाणी	101
15.	महावीरवाणी	114
16.	शंका-समाधान-II	118

वैराग्यपोषक साहित्य		S.No.
1.	मृत्यु महोत्सव	51
2.	श्रमणाचार विशेषांक	54
3.	सद्गुरु उपासना	113
4.	चिंतन मोती	90
5.	मृत्यु की मंगल यात्रा	16
6.	प्रभो ! मन मंदिर पधारो	110
7.	शांत सुधारस भाग-1	13
8.	शांत सुधारस भाग-1	14
9.	भव आलोचना	124

अनुक्रमणिका

क्र.	क्या	कहां
	नेमिनाथ-चरित्र	
1.	धनकुमार-देवभव	1
2.	चित्रगति-देव भव	11
3.	अपराजित-आरणदेव भव	19
4.	शंखकुमार-देवभव	27
5.	नेमिकुमार	33
6.	नेमिकुमार और शंखेश्वर	34
7.	लग्न अस्वीकार	37
8.	दीक्षा और केवलज्ञान	49
9.	स्थनेमि प्रतिबोध	51
10.	ढंढण अणगार	55
11.	देवकी के छ पुत्रों की दीक्षा	60
12.	कृष्ण प्रतिज्ञा	63
13.	द्वारका नाश	65
14.	बलदेव की दादा दशा	72
15.	निर्वाण कल्याणक	77
	महामंत्रीश्वर पेथड़ शाह	
16.	महामंत्रीश्वर परिग्रह परिमाणव्रत	80
17.	भाग्य-उदय	88
18.	ब्रह्मव्रत स्वीकार	96
19.	ईर्ष्या की आग	103
20.	लीलावती का बहिष्कार	112
21.	पश्चात्ताप के आंसु	120
22.	पुनर्मिलन	128
23.	देवगिरि में मंदिर	132
24.	गिरनार संघ	138
25.	श्रुत भक्ति	140
26.	प्रभु भक्ति	141

नेमिनाथ-चरित्र

पहला-दूसरा भव

धनकुमार-देवभव

मध्यलोक के मध्य में आया हुआ जंबुद्वीप !

इसी जंबुद्वीप के भरत क्षेत्र में अचलपुर नाम का नगर था । उस नगर में विक्रमधन नाम के राजा राज्य करते थे । प्रजा के रक्षण के लिए वे अत्यंत ही शूरवीर थे । प्रजा के रक्षण के लिए वे अत्यंत ही जागृत थे । उस राजा के धारिणी नाम की महारानी थी, जो अत्यंत ही रुपवती और गुणवती थी ।

स्त्री में रूपसौंदर्य हो, किंतु उसके जीवन में गुणों की सुवास न हो तो उस रूप की कोई कीमत नहीं है । कदाचित् रूप न हो तो चल सकता है, परंतु गुण तो अवश्य होने ही चाहिए । गुणों के अभाव में स्त्री को मिला रूप सौंदर्य उसकी आत्मा के लिए खतरनाक ही सिद्ध होता है ।

विक्रमधन महाराजा की महारानी धारिणी में रूप के साथ सद्गुणों का भी संगम होने से उसका रूप निंदनीय नहीं, बल्कि प्रशंसनीय ही था ।

एक बार मध्य रात्रि के समय महारानी ने स्वप्न में आम्रवृक्ष देखा । उस आम्र वृक्ष पर मंजरियाँ आई हुई थीं, इस कारण कोयलें आकर उस वृक्ष पर बैठकर आम्रमंजरियों का भक्षण कर रही थीं ।

वह आम्रवृक्ष किसी रूपवान् पुरुष के हाथ में था, हाथ में आम्रवृक्ष लेकर खड़े उस पुरुष ने कहा, ``यह आम्र वृक्ष आज तेरे आँगन में रोप रहा हूँ, कुछ काल व्यतीत होने के बाद उत्कृष्ट फल देनेवाला यह वृक्ष नौ बार अन्य-अन्य स्थान में लगाया जाएगा ।'' इतना कहकर वह पुरुष अदृश्य हो गया ।

इस उत्तम स्वप्न को देखकर महारानी खुश हो गई । उसके आनंद का पार न रहा, उसके देह की समस्त रोमराजि विकस्वरित हो गई । प्रातःकाल होने पर प्रसन्न हुई महारानी ने महाराजा को स्वप्न की बात कही ।

उत्तम स्वप्न की बात सुनकर महाराजा भी खुश हो गए ।

स्वप्न के वास्तविक फल को जानने के लिए महाराजा ने स्वप्नपाठक को बुलाया ।

महारानी को आए आम्रवृक्ष के स्वप्न को जानकर स्वप्नपाठक ने कहा, ``इस उत्तम स्वप्न के फलस्वरूप महारानी तेजस्वी पुत्र को जन्म देगी।''

``यह आम्रवृक्ष आगे चलकर नौ स्थानों में लगाया जाएगा, इसका अर्थ समझ में नहीं आ रहा है। इसका रहस्य तो केवली भगवंत ही समझा सकते हैं।''

भावी में होनेवाले पुत्ररत्न की बात सुनकर राजा-रानी के हर्ष का पार न रहा।

महारानी अत्यंत ही सावधानी पूर्वक गर्भ को वहन करने लगी। गर्भस्थ शिशु को किसी प्रकार की पीड़ा न हो इसका वह बराबर ख्याल रखने लगी।

गर्भ में आई उत्तम आत्मा के प्रभाव से धारिणी माता को उत्तम दोहद होने लगे। धीरे-धीरे समय बीतने लगा...और एक शुभ दिन शुभ घड़ी में महारानी ने अत्यंत ही तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया।

महाराजा व महारानी के आनंद का पार न रहा। संसारी जीवों को धन के प्रति अत्यधिक लगाव होता है अतः नवजात शिशु का नाम भी **'धन'** रखा गया।

दूज के चांद की भाँति धनकुमार धीरे-धीरे बड़ा होने लगा। योग्यवय होने पर उसका शिक्षण प्रारंभ हुआ। तीव्र मेधा व स्मरण शक्ति के फलस्वरूप अल्प काल में ही धन सभी विद्याओं में निपुण हो गया। यौवनवय में प्रवेश करने के कारण धनकुमार का रूप सौंदर्य भी चंद्र की सोलह कलाओं की भाँति एकदम खिल उठा।

इधर कुसुमपुर नगर में सिंह नाम के महाराजा रहते थे, जो न्याय व नीतिपूर्वक प्रजा का पालन-पोषण करते थे। वे अत्यंत ही तेजस्वी व महापराक्रमी थे। उनकी पटरानी का नाम **'विमलादेवी'** था।

विमलादेवी की कुक्षि से उत्पन्न हुई **'धनवती'** कन्या अत्यंत ही रुपवती और गुणवती थी। स्त्रियों की 64 कलाओं में निपुण बनी धनवती धर्मकला में भी अत्यंत ही आदरवाली थी।

एक बार ऋतुओं की रानी वसंत ऋतु का आगमन हुआ। धनवती

अपनी सखियों के साथ उद्यान में क्रीड़ा करने के लिए गई । धनवती राजकुमारी अन्य सखियों के साथ संगीत-गीत-नृत्य, वाद्ययंत्र व अन्य क्रीड़ाओं का आनंद ले रही थी । तभी उस उद्यान में आए एक चित्रकार के हाथ में रहे चित्रपट को धनवती ने देखा ।

चित्रपट पर चित्रित तेजस्वी युवक के अद्‌भुत रूप को देखकर धनवती अत्यंत ही मोहित हो गई । उसने चित्रकार के पास उस चित्रपट की मांग की । चित्रकार ने वह चित्रपट धनवती को दे दिया । चित्रपट में रहे चित्र के अद्‌भूत रूप और लावण्य को देखकर धनवती बोली, ``हे भद्र ! यह चित्र किसका है ? देव, दानव और मानव में तो यह रूप संभव नहीं है । अथवा तुमने अपनी चित्रकला को प्रदर्शित करने के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण चित्र का आलेखन किया है । क्योंकि वृद्धावस्था से जर्जरित हुए विधाता तो ऐसे रूपवान् पुरुष का सर्जन करने में सक्षम नहीं हैं ।''

धनवती की यह बात सुनकर चित्रकार ने कहा, ``इस चित्र में चित्रित राजकुमार तो अचलपुर के स्वामी विक्रमधन महाराजा के पुत्र धनकुमार हैं । मैंने तो अपनी मंद बुद्धि से यह चित्र बनाया है । इस चित्र में लेश भी अत्तिशयोक्ति नहीं है । उन्हें साक्षात् देखने पर तो यह चित्र तुच्छ ही प्रतीत होगा ।''

``हे भद्रे ! उनके अद्‌भुत रूप और लावण्य को देखकर देवांगनाएँ भी मोहित हो जाती हैं तो फिर स्त्री की तो क्या बात करें ? मैंने तो अपने नेत्रों के आनंद के लिए यह चित्र बनाया है ।''

चित्रपट में रहे धनकुमार को देख धनवती का हृदय बिंध गया । वह धनकुमार के प्रति अत्यंत ही मोहित हो गई । उसने मनोमन धनकुमार के साथ ही पाणिग्रहण करने का संकल्प कर लिया ।

उस चित्रपट को लेकर धनवती अपने घर गई । वह अत्यंत ही बेचैन हो गई । अब खाने-पीने व अन्य किसी भी कार्य में उसका मन नहीं लगता था । वह धनकुमार के विचारों में ही सतत खोई हुई रहती थी ।

धनवती की इस दुर्दशा को देखकर उसकी सखी ने उसे पूछ ही लिया, ``हे मृगलोचने ! तू इस प्रकार दुर्बल क्यों हो रही है ? क्या तेरे शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा है ?''

सखी की बात सुनकर धनवती ने कहा, ``सखी ! एक अनजान स्त्री की तरह तू मुझे यह प्रश्न क्यों पूछ रही है ? तू तो मेरा दूसरा हृदय है, क्या तू मेरी मनः स्थिति नहीं जानती है ? ऐसा प्रश्न कर तू मुझे लज्जित क्यों कर रही है ?''

धनवती की यह बात सुनकर सखी ने कहा, ``तूने मुझे जो उपालंभ दिया है, वह ठीक ही है । मैं तुम्हारी मनःस्थिति को अच्छी तरह से जानती हूँ, तेरे हृदय में धनकुमार को पाने का उच्च मनोरथ है । यह मुझे पता है, इसीलिए तो किसी ज्ञानी महापुरुष को तेरे भावी पति के बारे में मैंने पूछा था, ``धनवती को अपने इच्छित पति की प्राप्ति होगी ?'' इस प्रश्न को सुनकर ज्ञानी महापुरुष ने कहा, ``धनवती को अपनी इच्छानुसार वर की प्राप्ति होगी ।'' अतः अब तू सारी चिंताएँ छोड दे और निश्चिंत हो जा ।''

अपनी सखी के मुख से इन बातों को सुनकर धनवती के चित्त का भार हल्का हो गया । उसे यह विश्वास हो गया कि ज्ञानी महापुरुष ने कहा है तो मुझे इस जीवन में धनकुमार पति के रूप में अवश्य प्राप्त होगा ।

एक बार दिव्य वस्त्रों से अलंकृत होकर धनवती अपने पिता के चरणों में प्रणाम करने लगी, तभी उसकी यौवन वय को देख राजा ने सोचा, 'मेरी पुत्री यौवनवय को प्राप्त हो चुकी है, अतः इसके योग्य वर की शोध मुझे करनी ही चाहिए ।'

राजा इस प्रकार सोच ही रहा था, तभी किसी अन्य प्रयोजन से विक्रमधन राजा के पास भेजे दूत को राजा ने पूछा, ``क्या तुमने वहाँ कोई आश्चर्य देखा है ?''

राजा की यह बात सुनकर दूत ने कहा, ``मैंने वहाँ पर विक्रमधन राजा के पुत्र धनकुमार को देखा, उसके अद्‌भुत रूप और लावण्य को देखकर मुझे लगा कि ऐसा अद्‌भुत रूप और लावण्य तो देवों, दानवों और विद्याधरों में भी नहीं होगा । उसी समय मैंने सोचा, धनवती के लिए यह योग्य वर है । धनवती के साथ यदि इसका योग हो जाय तो दोनों का जीवन सफल व सार्थक हो जाय ।''

दूत की यह बात सुनकर राजा प्रसन्न हो गया ।

सिंह राजा ने पत्र लिखकर पुनः दूत को विक्रमधन राजा के पास

भेजा । अचानक आए हुए दूत को देखकर राजा ने पूछा, ``सिंह राजा कुशल तो हैं न ! तू वापस बहुत ही जल्दी लौट आया है, इसका कोई विशेष कारण होना चाहिए ।''

दूत ने कहा, ``हे राजन् ! सिंहरथ राजा तो कुशल हैं । उन्होंने मुझे वापस जल्दी भेजा, इसका अवश्य ही कुछ कारण है । सिंह राजा की पुत्री यौवन वय को प्राप्त हो चुकी है, वे महाराजा अपनी पुत्री आपके पुत्र धनकुमार को देना चाहते हैं । यद्यपि वर्षों से आप दोनों के बीच परस्पर प्रेम का संबंध चला आ रहा है, परंतु पुत्र-पुत्री के इस संबंध से आपका यह संबंध और अधिक विस्तार को प्राप्त होगा ।''

विक्रम राजा ने सोचा, ``यह तो मेरे लिए घर बैठे गंगा आई है । धनवती मेरे पुत्र के लिए सुयोग्य है । धनवती के साथ संबंध होने से मेरे पुत्र का भी जीवन सफल होगा ।''

राजा ने इस संबंध के लिए सहर्ष सम्मति दे दी ।

उस समय धनकुमार उद्यान में क्रीड़ा कर रहा था । दूत ने जाकर धनकुमार को धनवती का पत्र दिया । उस पत्र में धनवती ने लिखा था–

'विशेषितश्री शरदि, यौवनेनैव पद्मिनी ।

परिम्लानमुखी वाञ्छत्यादित्यकरपीडनम् ।।'

यौवन द्वारा जिसकी शोभा है, ऐसी वह शरद् ऋतु में मुरझाए हुए मुखवाली पद्मिनी सूर्य के करपीड़न (किरणों के स्पर्श) की इच्छा करती है ।

इस श्लोक को पढ़कर धनकुमार ने सोचा, ``यह धनवती मुझ पर अत्यंत ही रागवाली बनी है और वह मेरे करस्पर्श को चाहती है । अतः उसे योग्य प्रत्युत्तर देना ही चाहिए ।'' इस प्रकार सोचकर धनकुमार ने एक पत्र पर श्लोक लिखा–

'यत् प्रमोदयते सूर्यः पद्मिनी करपीडनात् ।

सोऽर्थस्वभावसंसिद्धो न हि याञ्चामपेक्षते ।।

करपीड़न से सूर्य आनंदित होता है यह तो स्वभाव सिद्ध ही है । वह सूर्य याचना की अपेक्षा नहीं रखता है ।

इस श्लोक के साथ धनकुमार ने अपने गले में रहा सोने का हार भी उतारकर धनवती को भेंट के रूप में भिजवाया ।

धनकुमार की ओर से आए पत्र को पढ़कर धनवती के आनंद का पार न रहा ।

धनवती को अपनी इच्छा पूर्ण होते दिखाई दी और एक शुभ दिन बहुत ही उत्साह उल्लासपूर्वक धनकुमार का धनवती के साथ पाणिग्रहण हो गया ।

श्वसुर गृह जाती हुई पुत्री धनवती को हितशिक्षा देती हुई विमला माता ने कहा, ***''बेटी ! आज तू अपने माता-पिता के घर को छोड़कर श्वसुरगृह जा रही है । अब से तू अपने सास-श्वसुर को माता-पिता तुल्य समझना, देव की तरह पति की भक्ति करना । शोक्य स्त्रियों के साथ हमेशा अनुकूल बनकर रहना । पति के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझकर सदैव उस सुख-दुःख में सहभागी बनना । पितृ संपत्ति का कभी अभिमान मत करना । किसी के कड़वे शब्दों को पचाने की शक्ति रखना ।''***

धनवती ने अपनी माँ की इन हितशिक्षाओं को मस्तक के मुकुट की भाँति हृदय में धारण किया ।

धन और धनवती के सुखमय दिन व्यतीत होने लगे ।

एक दिन धनकुमार घोड़े पर आरूढ़ होकर वन में घूमने के लिए निकला । वन में घूमते हुए वह एक ऐसे उद्यान में जा पहुँचा, जहाँ चार ज्ञान के धारक वसुंधर मुनि भव्यजीवों के प्रतिबोध के लिए धर्मदेशना दे रहे थे ।

धनकुमार मुनि भगवंत के पास पहुँच गया और अत्यंत ही आदर-बहुमान के साथ मुनि भगवंत की धर्मदेशना का श्रवण करने लगा । इधर नगर में ज्योंही विक्रमधन महाराजा को मुनि भगवंत के आगमन का पता चला, वह भी अपने विशाल परिवार के साथ मुनि भगवंत की धर्मदेशना सुनने के लिए उद्यान में आ पहुँचा ।

राजा-रानी आदि सभी खूब उत्साह-उल्लास के साथ मुनि भगवंत की धर्मदेशना का अमीपान करने लगे ।

देशना की समाप्ति के बाद विक्रमधन महाराजा ने अपने मन में रहे संशय के समाधान के लिए मुनि भगवंत को पूछा, ``हे प्रभो ! जब यह धन माँ के गर्भ में था, तब उसकी माता ने स्वप्न में आम्र वृक्ष देखा था और उसका उत्कृष्ट फल नौ बार अन्य-अन्य स्थान पर रोपने से होगा ।' इस स्वप्न के फलस्वरूप पुत्र-प्राप्ति तो हुई, परंतु विशेष फल क्या होगा ? यह बताने की

कृपा करें ।'

राजा के इस प्रश्न को सुनकर चार ज्ञान के धारक भगवंत ने कहा, ``तुम्हारा यह पुत्र इस भव से नौवें भव में इस भरत क्षेत्र में बाईसवें अरिष्ट नेमि नाम के तीर्थंकर के रूप में पैदा होगा और हजारों आत्माओं को धर्मबोधि प्रदान करेगा ।''

मुनि भगवंत की इस धर्मदेशना को सुनकर सभी हर्षित हुए और अपने-अपने भवन में चले गए । मुनि भगवंत ने भी वहाँ से विहार कर दिया ।

धन और धनवती देवों की भाँति दिव्य सुखों का अनुभव करने लगे ।

एक बार धनकुमार अपनी पत्नी धनवती के साथ क्रीड़ा करने के लिए किसी सरोवर के तट पर गया । अचानक ही वहां पर उसने तृषा व ताप से पीड़ित मुनि को भूमि पर पड़े देखा । मुनि को देखते ही धनकुमार व धनवती मुनि के पास आए और उनकी सेवा शुश्रूषा में लग गए । बाह्य उपचार द्वारा उन्होंने मुनि को स्वस्थ किया ।

धन ने मुनि भगवंत की वंदना की, तत्पश्चात् पूछा, ``हे भगवंत ! आपकी यह दुर्दशा कैसे हुई ?''

मुनिवर ने कहा, ``हे राजकुमार ! वास्तव में तो यह संसार-आवास ही कष्ट रूप है । विहार से उत्पन्न हुआ यह कष्ट तो आत्मा के कल्याण के लिए ही है । मैं मुनिचंद्र नाम के गुरुदेव के साथ अनेक मुनियों सहित निकला था । किसी सार्थ के साथ ही हम सब आगे बढ़ रहे थे । बीच मार्ग में दिशाभ्रम हो जाने से मैं अलग पड़ गया और भटकते-भटकते यहाँ आ गया । भयंकर ताप व तृषा के कारण मैं मूर्च्छित हो गया था, आपने मुझे बचाया, आपको धर्म का लाभ हो ।

``हे राजकुमार ! यह संसार अत्यंत ही क्षणभंगुर है । संसार के सभी संबंध आज नहीं तो कल अवश्य ही नष्ट हो जाने के स्वभाववाले हैं ।

यह संसार अनादिकाल से है । इस संसार में आत्मा का अस्तित्व अनादिकाल से है । कर्म के संयोग के कारण आत्मा इस संसार में अनादिकाल से भटक रही है ।''

``भगवंत ! इस संसार से छूटने का कोई उपाय नहीं है ?''

``कुमार ! अनादि काल से आत्मा और कर्म का जो संयोग है, वह

प्रवाह की अपेक्षा से है । यह संयोग ऐसा है, जो प्रयत्न व पुरुषार्थ द्वारा दूर किया जा सकता है ।''

``हे कृपालु गुरुदेव ! वह पुरुषार्थ कौनसा है ?''

``कुमार ! रत्नत्रयी की निर्मल आराधना व साधना के फलस्वरूप आत्मा कर्म के बंधन से सर्वथा मुक्त हो सकती है ।''

``वह रत्नत्रयी की आराधना किस प्रकार हो सकती है ?''

``सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को रत्नत्रयी कहते हैं ।

जिनेश्वर भगवंत के वचन पर पूर्ण श्रद्धा रखना, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

जिनेश्वर भगवंत द्वारा निर्दिष्ट जीव आदि नौ तत्त्वों के बोध को सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

हिंसादि पाप प्रवृत्ति के त्याग को चारित्र कहते हैं । यह चारित्र दो प्रकार का है । संपूर्णतया पापप्रवृत्ति के त्याग को सर्वविरति चारित्र कहते हैं और आंशिक पापत्याग को देशविरति चारित्र कहते है ।

रत्नत्रयी की प्राप्ति के क्रम में सर्वप्रथम आत्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद आत्मा का संसार परिभ्रमण अत्यंत ही मर्यादित हो जाता है ।

सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान भी अज्ञान ही कहलाता है और चारित्र भी कांय-कष्ट कहलाता है ।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर देह और आत्मा के भेद स्वरूप विवेक पैदा होता है ।

संसार में परिभ्रमण कर रही आत्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना अत्यंत ही दुर्लभ है ।

मिथ्यात्व मोहनीय का ह्रास और कर्म की लघुता होने पर ही आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण पैदा होता है ।''

सम्यग्दर्शन की दुर्लभता और उसकी महत्ता समझाने के बाद मुनिश्री ने धन व धनवती को देशविरति और सर्वविरति चारित्र धर्म का स्वरूप विस्तार से समझाया ।

मुनिश्री की धर्मदेशना के श्रवण से धन व धनवती के अन्तर्मन में वैराग्यभाव का बीजारोपण हुआ । अनादिकाल से आत्मा में रही हुई राग-द्वेष की तीव्र ग्रंथि का भेद हो गया और उसी समय धन व धनवती ने सम्यग्दर्शन के आत्म-परिणाम का स्पर्श किया ।

समकिती आत्मा की स्थिति जल बिन मछली की भाँति होती है । जिस प्रकार मछली अपनी सुरक्षा के लिए सदैव जल में ही वास करना चाहती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा भी सतत विरति रूपी जल को ही पाना चाहती है ।

जीवन में सर्वविरति ही पाने योग्य है, यह सम्यग्दृष्टि आत्मा की स्पष्ट मान्यता होती है ।

मुनिश्री की धर्मदेशना का श्रवणकर धन और धनवती ने कहा, ``भगवंत ! मानव जीवन में एक मात्र सर्वविरति चारित्र ही ग्रहण करने योग्य है, परंतु अभी उसे ग्रहण करने की तैयारी नहीं है, अतः आप कृपाकर हमें सम्यक्त्व सहित देशविरति धर्म प्रदान करें ।''

धन और धनवती की इस भावना को जानकर मुनि भगवंत ने उन्हें सम्यक्त्व सहित श्रावक जीवन के अलंकार स्वरूप बारह व्रत प्रदान किए ।

तत्पश्चात् धन व धनवती ने मुनि भगवंत को आहार-पानी के लिए आग्रहपूर्ण विनंति की । उनकी भावना को देख मुनि भगवंत उनके घर पधारे । उन्होंने भक्तिपूर्वक महात्मा को आहार-पानी बहोराया ।

धर्मश्रवण की इच्छा से धन ने महात्मा को कुछ दिन ठहरने के लिए विनंति की । उनकी भावना को देख कुछ दिनों तक महात्मा भी वहाँ रुके । महात्मा के मुख से निरंतर धर्मदेशना के श्रवण के फलस्वरूप उनकी धर्म-भावना वृद्धिंगत होने लगी । कुछ समय बाद महात्मा ने वहां से विहार कर दिया ।

धन और धनवती दोनों की समान विचारधारा होने से दोनों की भावनाएँ बढ़ने लगीं...दोनों के बीच परस्पर प्रेम भी बढ़ने लगा ।

विचारधारा में जहाँ समानता होती है, वहाँ प्रेम बढ़ता है और जहाँ विचारधारा में भेद होता है, वहाँ प्रेम में भी तिराड़ पड़ जाती है ।

धन और धनवती का परस्पर प्रेम संबंध नौ भवों तक चलता है, उसका एक कारण उन दोनों की समान विचारधारा भी थी ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा । विक्रमधन महाराजा ने अपना अंत समय नजदीक जानकर धनकुमार का राज्याभिषेक किया ।

राजा बनने के बाद धन, न्याय व नीति पूर्वक प्रजा का पालन-पोषण करने लगा ।

एक बार उद्यानपाल ने आकर धन महाराजा को बधाई देते हुए कहा, ``हे स्वामिन् ! आपके पूर्व परिचित वसुंधर महाराज उद्यान में पधारे हैं ।''

अपने उपकारी मुनि भगवंत के आगमन को सुनकर धनराजा के हर्ष का पार न रहा । बड़े आडंबर पूर्वक अपने विशाल परिवार के साथ धन राजा, मुनि भगवंत को वंदन करने के लिए उद्यान में गया ।

अत्यंत ही आदर और बहुमानपूर्वक मुनि भगवंत के चरणों में भावपूर्वक वंदना कर देशना-श्रवण की इच्छा से धनराजा मुनि भगवंत के चरणों में बैठ गया ।

धनराजा के दिल में धर्म के प्रति अपूर्व श्रद्धा और आस्था थी । धनराजा की योग्यता व पात्रता को देखकर मुनि भगवंत ने भी वैराग्य सभर धर्मदेशना दी ।

धनराजा में योग्यता तो थी ही, मात्र निमित्त की जरूरत थी । मुनि भगवंत की वैराग्यमय धर्मदेशना सुनकर धन राजा का मन संसार से विरक्त हो गया । उसने उसी समय मोहमाया के बंधनों को तोडकर भागवती दीक्षा अंगीकार करने का संकल्प कर लिया ।

राज्य की जवाबदारी से मुक्त होने के लिए धनराजा ने अपने पुत्र जयंत का राज्याभिषेक कर दिया, फिर शुभ मुहूर्त में गुरुचरणों में जाकर धन और धनवती ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । धन राजा के साथ उसके दो भाई धनदत्त और धनदेव ने भी भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

गीतार्थ गुरु के चरणों में शास्त्राभ्यास करते हुए धनमुनि गीतार्थ बने । वे अपनी देशना लब्धि द्वारा अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध देने लगे । गुरु भगवंत ने उनकी योग्यता जानकर उन्हें आचार्य पद प्रदान किया ।

आचार्य पदारूढ़ होने के बाद धनर्षि जैनशासन की सुंदर प्रभावना करने लगे । अपने आयुष्य का अंतकाल जानकर धन आचार्य भगवंतने एक मास की संलेखनापूर्वक अनशन व्रत स्वीकार किया ।

अंत में अत्यंत ही समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर धन व धनवती दोनों सौधर्म देवलोक में देव बने ।

तीसरा-चौथा भव

चित्रगति एवं देव

भरतक्षेत्र ! तेजपुर नगर ! 'सूर' नाम का चक्रवर्ती राजा था । 'सूर' राजा के विद्युत्मती नाम की मुख्य पटरानी थी ।

अपने देव भव के दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर धन राजर्षि का जीव विद्युत्मती की कुक्षि में पुत्र के रूप में पैदा हुआ । गर्भकाल व्यतीत होने पर एक शुभ दिन-शुभ मुहूर्त में विद्युत्मती महारानी ने तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । नवजात शिशु का नाम **चित्रगति** रखा गया । धीरे-धीरे चित्रगति बड़ा होने लगा । विद्याग्रहण के योग्य वय प्राप्त होने पर उसने सभी प्रकार की कलाओं का शिक्षण प्राप्त किया ।

वैताढ्य पर्वत पर शिवमंदिर नगर में अनंगसिंह नाम का राजा राज्य करता था, उस राजा की मुख्य रानी का नाम शशिप्रभा था । अपने देव भव के आयुष्य को पूर्णकर धनवती की आत्मा शशिप्रभा की कुक्षि में पुत्री के रूप में पैदा हुई । गर्भकाल व्यतीत होने पर अनेक पुत्रों के ऊपर पुत्री के रूप में जन्म लिया । माता-पिता ने अपनी पुत्री का नाम **'रत्नवती'** रखा ।

धीरे-धीरे रत्नवती बड़ी होने लगी । यौवन वय प्राप्त होने तक वह स्त्रियों की सभी 64 कलाओं में निपुण बन गई ।

महाराजा को अपनी पुत्री के योग्य वर की चिंता सताने लगी । एक दिन महाराजा ने किसी नैमित्तिक को पूछ लिया, ``हे नैमित्तिक ! मेरी पुत्री के योग्य वर कौन होगा ?''

नैमित्तिक ने कहा, ``हे राजन् ! जो पुरुष आपके हाथ में रहे खड्गरत्न को खींच लेगा और सिद्धायतन में नमस्कार करते समय जिसके ऊपर पुष्प-वृष्टि होगी, वह आपकी कन्या के योग्य वर होगा ।''

राजा ने सोचा, ``अहो ! जो व्यक्ति मेरे हाथ में रहे खड्गरत्न को खींच लेगा तो अवश्य ही वह व्यक्ति मुझसे अधिक बलवान होगा । मेरी पुत्री का वर मुझ से अधिक बलवान हो तो यह मेरे लिए खुशी की ही बात है ।''

योग्य बहुमान कर राजा ने नैमित्तिक को विदाई दी ।

इसी भरतक्षेत्र में चक्रपुर नगर में सुग्रीव नाम का राजा राज्य करता

था । उस राजा के यशस्वती और भद्रा नाम की दो रानियाँ थीं । दोनों रानियों ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया था । यशस्वती के पुत्र का नाम सुमित्र और भद्रा के पुत्र का नाम पद्म था । सुमित्र गुणवान था, जबकि पद्म अत्यंत ही गुणहीन था ।

एक बार भद्रा माता ने सोचा– जब तक यह सुमित्र जिंदा रहेगा, तब तक मेरे पुत्र को राज्य की प्राप्ति नहीं होगी अतः किसी भी उपाय से सुमित्र का अंत लाना होगा । इस प्रकार विचार कर उस दुष्ट बुद्धिवाली भद्रा ने सुमित्र को मार डालने के लिए उसे भयंकर जहर खिला दिया । जहर के प्रभाव से सुमित्र तत्क्षण मूर्च्छित हो गया ।

स्वार्थ वृत्ति एक भयंकर पाप है । स्वार्थ भाव में डूबा व्यक्ति कोई भी पाप करने के लिए तैयार हो जाता है । स्वार्थ में डूबे व्यक्ति को अपनी आत्मा के हित-अहित का विचार नहीं होता है । निकृष्ट से निकृष्ट पाप कर्म करते हुए भी उसे लेश भी संकोच नहीं होता है ।

ज्योंही सुग्रीव राजा को इस बात का पता चला तो वह दौड़कर अपने पुत्र के पास आ गया । पुत्र को विष मुक्त बनाने के लिए उसने अपने भरसक प्रयत्न चालू किए, परंतु कहीं भी उसे सफलता नहीं मिली ।

पापी का पाप आखिर कब तक छिपा रहता है । ज्योंही लोगों को पता चला कि सुमित्र राजा के पुत्र को उसकी शोक्य माता भद्रा ने ही जहर दिया है, तो लोग उसकी निंदा-भर्त्सना करने लगे । अपना पाप खुल जाने से भद्रा भयभीत हो गई । अपने प्राण बचाने के लिए वह अन्यत्र कहीं भाग गई ।

विष के प्रभाव से मूर्च्छित बने पुत्र को पुनर्जीवित करने के लिए राजा ने अनेक मंत्र, तंत्र व शांति कर्म किए । पुत्र के वियोग की पीड़ा से राजा अत्यंत ही शोक करने लगा ।

इसी समय चित्रगति क्रीडा करने के लिए आकाशमार्ग से कहीं जा रहा था । वह वहाँ नीचे उतर आया । नगरजनों को शोकातुर देखकर वह विमान में से बाहर आ गया और उसने शोक का कारण पूछा ।

नगरवासियों ने वास्तविक परिस्थिति का ख्याल कराया ।

चित्रगति ने कहा, ``तुम मुझे राजकुमार के पास ले चलो । मैं अपनी शक्ति के बल से उसे विषमुक्त कर दूंगा ।'' उसी समय मंत्री सामंत आदि

लोग चित्रगति को राजकुमार के पास ले गए ।

अपनी विद्या के बल से चित्रगति ने तुरन्त मंत्रितजल से छंटकाव किया । विद्या के प्रभाव से सुमित्र तत्क्षण विष के प्रभाव से मुक्त हो गया ।

उसी समय नींद में से जागृत होते हुए की तरह सुमित्र अपने आसन पर बैठ गया । उसने पूछा, ``पिताजी ! यह सब क्या है ? इतने लोग क्यों इकट्ठे हुए हैं ?'' राजा ने कहा, ``सुमित्र ! तेरी शोक्य माता ने तुझे मार डालने के लिए जहर दे दिया था, उस जहर के कारण तू मूर्च्छित हो गया था, परन्तु निष्कारण बंधु ऐसे इन महापुरुष ने तुझे विषमुक्त कर तुझे जीवन दान दिया है ।''

इस सत्य का बोध होते ही सुमित्र ने चित्रगति को कहा, ``हे महापुरुष ! निष्कारण बंधु ऐसे आपने मुझे जीवन दान देकर अपने उत्तम कुल का परिचय दिया है, अब मैं आपकी उत्तम जाति आदि का भी श्रवण करना चाहता हूँ । क्योंकि महापुरुषों के उत्तम कुल-वंश आदि के श्रवण से भी एकांत लाभ ही होता है ।''

उत्तम पुरुष कभी अपने मुँह से अपनी उत्तम जाति आदि का निर्देश नहीं करते हैं, अतः उसी समय चित्रगति के साथ में आए मंत्री-पुत्र ने चित्रगति के कुल-वंश आदि का परिचय दिया, जिसे सुनकर सभी के आनंद का पार न रहा ।

चित्रगति के उत्तम कुल आदि को जानने के बाद सुमित्र ने कहा, ``मेरी माता ने मुझे विष प्रदान करके तो मुझ पर उपकार ही किया है, अन्यथा आपके दर्शन मुझे कहाँ से होते ? आपने मुझे मात्र जीवन दान ही नहीं दिया है, परंतु दुर्गति में गिरते हुए भी आपने मुझे बचाया है, क्योंकि अंतिम समय में नवकार और पच्चक्खाण के अभाव में मेरी आत्मा की पता नहीं, कौनसी गति हो जाती ? आपने मुझे जीवनदान देकर जो उपकार किया है, उसके लिए मैं आपका क्या प्रत्युपकार करूँ ?

चित्रगति ने कहा, ``तुम्हें विषमुक्त कर मैंने कोई बहुत बड़ा परोपकार नहीं किया है, यह तो सिर्फ मैंने अपना कर्तव्य अदा किया है । सुमित्र ! मुझे अपने नगर में जल्दी जाना है, अतः मैं चलता हूँ ।'

सुमित्र ने कहा, ``बंधुवर्य ! पास में ही सुयश नाम के केवली भगवंत

विचरण कर रहे हैं, अतः उनको वंदन करके फिर आगे जाना उचित होगा।''

सुमित्र की यह बात सुनकर चित्रगति ने अपनी सम्मति प्रदान कर दी।

कुछ दिनों तक चित्रगति, सुमित्र के साथ रहा। एक दिन सुमित्र और चित्रगति दोनों केवली भगवंत को वंदन करने के लिए पहुँच गए। उस समय सुग्रीव राजा भी वहाँ आ गया था। उन सभी ने अत्यंत ही सद्भाव पूर्वक केवली भगवंत को वंदना की।

केवली भगवंत ने भी उनके कल्याण के लिए वैराग्यमय धर्मदेशना दी, जिसे सुनकर चित्रगति का मनमयूर नाच उठा। चित्रगति ने केवली भगवंत के पास सम्यक्त्व सहित देशविरति धर्म स्वीकार किया।

'धन' श्रेष्ठी के भव में सम्यक्त्व का स्पर्श हुआ होने से इस भव में चित्रगति को सद्धर्म की प्राप्ति अत्यंत ही सुलभता से हो गई थी।

जिस भूमि में बीज बोया हुआ होता है, उस भूमि में जल-हवा आदि की सामग्री प्राप्त होने पर अवश्य ही अंकुर पैदा होता है और वह अंकुर धीरे धीरे वृद्धिंगत होता जाता है, परंतु बीज ही बोया हुआ न हो तो चाहे जितनी वर्षा हो, उस भूमि में से अंकुर फूटने की संभावना नहीं रहती है।

केवली भगवंत की देशना समाप्ति के बाद सुग्रीव राजा ने पूछा, ''हे भगवंत ! मेरे पुत्र को विष देने के बाद वह भद्रा कहाँ गई ? उसका भविष्य जानने की जिज्ञासा है, अतः आप उसका भविष्य बताने की कृपा करें !''

सुग्रीव राजा की जिज्ञासा और उत्सुकता को देख केवली भगवंत ने कहा, ''तुम्हारे पुत्र को जहर देने के बाद वह भद्रा जंगल में चली गई, वहाँ भील लोगों ने उसे पकड़ लिया। उसके पास रहे सभी आभूषणों को लूटकर उसे एक वणिक् को बेच दी। वह भद्रा वहाँ से भी भाग गई। आखिर महा दावानल में जलकर खाक हो गई, अंतिम समय में रौद्रध्यान होने से वह मरकर पहली नरक में गई है। वहाँ अपना आयुष्य पूर्ण कर चंडाल के यहाँ पुत्री के रूप में पैदा होगी। लग्न के बाद वह सगर्भा बनेगी और वहाँ शोक्या के साथ कलह होने के कारण बेमौत मारी जाएगी, वहाँ से मरकर तीसरी नरक में जाएगी। दीर्घकाल तक वह तिर्यंच गति में भ्रमण कर अनंत दुःखों को सहन करेगी। उसके इस संसार-परिभ्रमण का मुख्य कारण तुम्हारे

सम्यग्दृष्टि पुत्र को दिया गया जहर है ।''

भद्रा के भावी जीवन को सुनकर उसके पति सुग्रीव का हृदय काँप उठा, उसने कहा, ``जिस पुत्र को राज्य दिलाने के लिए उसने यह भयंकर पाप किया उसका यह पुत्र तो यहीं है, जबकि उसे नरक में जाना पड़ा ! अहो ! यह संसार अत्यंत ही भयंकर है । ऐसे भयंकर संसार में अब मुझे नहीं रहना है । आप मेरा इस संसार से उद्धार करें और भव-निस्तारिणी भागवती दीक्षा प्रदान करें ।''

पिता द्वारा केवली भगवंत को की गई इस प्रार्थना को सुनकर सुग्रीव ने कहा, ``मेरे कारण ही भद्रा माता ने इस पाप का आचरण किया है, अतः वास्तव में गुनहगार तो मैं ही हूँ, अतः इस पाप के प्रायश्चित्त रूप में मुझे दीक्षा प्रदान करो ।''

पिता की इच्छा है कि-``मैं दीक्षा अंगीकार करूँ ।'' पुत्र की इच्छा है...``मैं दीक्षा अंगीकार करूँ ।''

पिता-पुत्र के बीच मीठा झगड़ा था, वह भी राज्यप्राप्ति के लिए नहीं, बल्कि राज्य के त्याग के लिए ।

महापुरुषों की यही उज्ज्वल परंपरा है कि वे भोग के लिए नहीं, बल्कि त्याग के लिए लड़ते हैं ।

आखिर पिता की बात पुत्र को माननी पड़ी और सुमित्र को राजगद्दी सौंपकर सुग्रीव राजा ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

सुमित्र चक्रपुर का राजा बना । उसने अपने भाई को कुछ गाँवों का आधिपत्य प्रदान किया, परंतु उस पद्य में किसी प्रकार की योग्यता, पात्रता नहीं थी, अतः असंतोष के कारण राज्य के लोभ से पीड़ित वह नगर छोड़कर कहीं अन्यत्र चला गया ।

सुमित्र की बहिन का विवाह कलिंग देश के राजा के साथ हुआ था, शिवमंदिर के राजा अनंगसिंह के पुत्र कमल ने उसका अपहरण कर लिया । अपनी बहिन के अपहरण के समाचार जानकर सुमित्र को अत्यंत ही आघात लगा, ये समाचार चित्रगति को भी मिले ।

चित्रगति ने सोचा, ``यद्यपि कमल के साथ मेरी कोई शत्रुता नहीं है, परंतु सुमित्र मित्र की आपत्ति मेरी ही आपत्ति है, अतः इस मित्रता के नाते भी

मुझे कमल पर आक्रमण करना चाहिए और सुमित्र की बहिन को बंधन मुक्त बनाना चाहिए ।'' इस प्रकार विचार कर चित्रगति ने शीघ्र ही युद्ध के लिए शिवमंदिर की ओर प्रयाण कर दिया ।

चित्रगति के निकट आने पर अनंगसिंह ने कहा, ``कलिंग राजा के साथ मेरा युद्ध है तो उसमें तुम्हें बीच में आने की जरूरत नहीं है । तुम व्यर्थ ही यह झगड़ा क्यों मोल लेते हो ?''

चित्रगति ने कहा, ``सुमित्र के साथ रही मैत्री के नाते इस युद्ध में मेरे लिए उतरना जरूरी है । आपत्ति में यदि मित्र मदद नहीं करेगा तो और कौन करेगा ? तुम सुमित्र की बहिन हमें सौंप दो, नहीं तो लड़ने के लिए तैयार हो जाओ ।''

आखिर अनंगसिंह और चित्रगति के बीच युद्ध प्रारंभ हो गया । उस युद्ध में अनंगसिंह की सेना पीछे हटने लगी । अंनगसिंह को अपनी हार होते दिखाई दी । अपनी हार को देख अनंगसिंह गुस्से में आ गया और उसने उसी समय वासुदेव के सुदर्शन चक्र की भाँति देवताधिष्ठित खड्गरत्न को याद किया । उसके पुण्य प्रभाव से तत्क्षण खड्गरत्न उसके हाथ में आ गया । उस खड्गरत्न से प्रहार करने के लिए जैसे ही अनंगसिंह तैयार हुआ तत्क्षण चित्रगति ने उसके हाथ से उस खड्गरत्न को छीन लिया ।

यद्यपि चित्रगति उस खड्गरत्न से अनंगसिंह को खत्म करने में समर्थ था, परंतु उसने अनंगसिंह को मारना मुनासिब न समझकर तुरंत ही उसके पुत्र कमल को कैद कर लिया और उसके पास से सुमित्र की बहिन को मुक्त करा लिया ।

खड्गरत्न के छीन लेने से अनंगसिंह आकुल व्याकुल हो गया, वह एकदम हताश हो गया । उसके आघात का पार न रहा, परंतु दूसरे ही क्षण उसका शोक हर्ष में बदल गया । अपनी पुत्री के भावी वर के संदर्भ में नैमित्तिक की कही गई भविष्यवाणी उसे याद आ गई । वह सोचने लगा, ``नैमित्तिक ने कहा था कि जो व्यक्ति तुम्हारे हाथ से खड्गरत्न छीन लेगा और जिसके ऊपर सिद्धायतन में पुष्प वृष्टि होगी, वही तुम्हारी पुत्री रत्नवती का पति बनेगा ।''

नैमित्तिक की आधी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो चुकी थी, यह जानकर अनंगसिंह को खुशी हुई, उसे चित्रगति में भावी दामाद के दर्शन होने लगे ।

बीच मार्ग में ही चित्रगति की सुमित्र से मुलाकात हो गई । चित्रगति

ने सुमित्र की बहिन, सुमित्र को सौंप दी । संसार के इस विचित्र नाटक को देखकर सुमित्र के हृदय में वैराग्य भाव पैदा हो गया । अपने पुत्र को राजगद्दी सौंपकर सुमित्र ने सुयश केवली के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

सुमित्र राजा मिटकर राजर्षि बन गए । वे रत्नत्रयी की आराधना साधना में उद्यमशील बने । एक बार अपने गुरुदेव की अनुज्ञा प्राप्त कर जंगल में कायोत्सर्ग ध्यान की साधना कर रहे थे, तभी इधर उधर भटकता हुआ वह पद्म वहाँ पर आ गया । उसने सुमित्र मुनि को साधना करते हुए देखा । मुनि को देखते ही वह रोषायमान हो गया । ``इसी सुमित्र के कारण मेरी माता को इतने भयंकर कष्ट सहन करने पड़े थे, छोटासा राज्य देकर इसी ने मेरे साथ अन्याय किया था, अब बदला लेने का सुंदर अवसर आया है'' इस प्रकार विचारकर उसने मुनि के ऊपर विषमिश्रित बाण छोड़ा ।

बाण के तीक्ष्ण प्रहार से सुमित्र मुनि भूमि पर ढल पडे, परंतु उनका अन्तर्मन तो शुभ भावनाओं से भावित था, अतः अत्यंत ही समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्तकर वे मुनि ब्रह्मदेवलोक में सामानिक देव बने ।

सुमित्र मुनि की हत्या कर पद्म जंगल की ओर बढ़ा । भयंकर नाग ने उसे डंख मारा । वह मरकर 7 वीं नरक में नारक के रूप में पैदा हुआ ।

राजर्षि सुमित्र मुनि के कालधर्म के समाचार सुनकर चित्रगति को अत्यंत ही आघात लगा । उस आघात के प्रभाव से मुक्त होने के लिए चित्रगति ने सिद्धायतन की यात्रा का प्रोग्राम बनाया ।

चित्रगति अपने मित्र-परिवार के साथ सिद्धायतन पहुँच गया, वहाँ पर उसने परमात्मा की अपूर्व सेवा भक्ति की, उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर ब्रह्मदेवलोक में रहा सुमित्र देव प्रसन्न हो गया और उसने चित्रगति के ऊपर सुगंधित पुष्पों की वृष्टि की ।

उस यात्रा में अनंगसिंह राजा भी वहाँ पर आया हुआ था । देवताकृत पुष्पवृष्टि को देख वह अत्यंत ही खुश हो गया । उसने उसी समय चित्रगति के साथ अपनी पुत्री रत्नवती के पाणिग्रहण का निश्चय कर लिया ।

चित्रगति की ओर से सहमति प्राप्त होते ही बड़ी धूमधाम के साथ चित्रगति और रत्नवती का लग्न महोत्सव मनाया गया ।

गत भव में धन और धनवती के रूप में जो लग्न-ग्रंथि से जुड़े थे, वे

इस भव में चित्रगति और रत्नवती के रूप में लग्न ग्रंथि से जुड़े । धनकुमार के भव में जो धनदेव और धनदत्त नाम के भाई थे, वे इस भव में चित्रगति के भाई मनोगति और चपलगति बने थे ।

काल का प्रवाह आगे बढ़ने लगा ।

एक शुभ दिन किसी त्यागी तपस्वी संयमी महात्मा की धर्मदेशना सुनकर अपने पुत्र चित्रगति को राजगद्दी सौंपकर सुरराजा ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । दीक्षा अंगीकार कर वे रत्नत्रयी की आराधना साधना में मस्त हो गए ।

राज्यप्राप्ति के बाद चित्रगति न्याय व नीतिपूर्वक प्रजा का पालन-पोषण करने लगा ।

एक बार मणिचूल नाम के सामंत राजा की मृत्यु के बाद उसके दोनों पुत्र शशी और सुर पिता के राज्य को पाने के लिए झगड़ा करने लगे, चित्रगति ने उन्हें समझाया और झगडा शांत किया ।

कुछ समय बाद पुनः वे दोनों भाई झगड़ने लगे । आपसी संघर्ष में ही उन दोनों की मृत्यु हो गई ।

राज्य के लोभ में फंसे दोनों भाइयों की मृत्यु के समाचार से चित्रगति राजा को अत्यंत ही आघात लगा । उनके अन्तर्मन में वैराग्य भाव का बीजारोपण हुआ ।

योग्य आत्मा के लिए दुनिया के रंगमंच पर घटित होनेवाली प्रत्येक घटना वैराग्य का प्रबल निमित्त बन सकती है, जबकि साक्षात् प्रभु का योग हो जाय तो भी तुच्छ आत्माओं को कुछ भी लाभ नहीं होता है ।

वैराग्य के इस प्रबल निमित्त को प्राप्तकर चित्रगति ने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर अपनी पत्नी और दोनों भाइयों के साथ भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

दीक्षा अंगीकार कर चित्रगति मुनि संयम की साधना में जुड़ गए ।

अंत में पादपोपगमन अनशन के द्वारा अपने देह का परित्याग कर माहेन्द्र देवलोक में श्रेष्ठ कोटि के देव बने ।

रत्नवती साध्वी और चित्रगति के दोनों भाई मुनि भी अत्यंत ही समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर उसी देवलोक में देव के रूप में पैदा हुए ।

वे चारों देव परस्पर प्रीतिपूर्वक देवलोक के दिव्य सुखों का भोग करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगे ।

अपराजित और आरणदेव भव

पश्चिम महाविदेह ।

पद्मविजय । सिंहपुरनगर हरिनंदी राजा और प्रियदर्शना महारानी ।

एक शुभ दिन चित्रगति की आत्मा का देवलोक से च्यवन हुआ और प्रियदर्शना महारानी की कुक्षि में उनका अवतरण हुआ । महारानी ने सुंदर स्वप्न देखा । एक शुभ दिन महारानी ने अत्यंत ही तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

माता-पिता ने उस बालक का नाम **'अपराजित'** रखा । धीरे-धीरे अपराजित बड़ा होने लगा । देह और वय की वृद्धि के साथ अपराजित सभी प्रकार की कलाओं में भी निपुण बना ।

अपराजित ने यौवन वय में प्रवेश किया । इस वय में भी उसकी प्रकृति अत्यंत ही शांत और गंभीर थी । यौवन का उन्माद उसकी अन्तरात्मा को छू न सका ।

एक बार अपराजित मंत्री-पुत्र विमलबोध के साथ घुड़सवारी करने लगा । वे घोड़े तेजी से भागने लगे । विपरीत रूप से शिक्षित होने के कारण अपराजित और विमलबोध ज्यों ज्यों उन घोड़ों की लगाम खींचते, त्यों-त्यों वे घोड़े और तेजी से भागने लगते । आखिर कंटालकर उन दोनों ने घोड़े की लगाम ढीली छोड़ दी तो वे घोड़े वहीं रुक गए ।

अपराजित और विमलबोध अपने नगर से बहुत दूर किसी जंगल में आ गए थे ।

अपराजित ने कहा, ``विमल ! जो कुछ हुआ वह अच्छे के लिए हुआ है । इन घोड़ों ने अपना अपहरण नहीं किया होता तो हम इस जंगल में कहाँ से आते ? प्रकृति के सौंदर्य को देखने के लिए हमें बहुत ही सुंदर अवसर हाथ लगा है, हम यहाँ पर किसी की भी रोक-टोक के बिना आराम से घूम फिर सकेंगे ।''

इस प्रकार अपराजित अपने दिल की खुशियों को शब्दों में व्यक्त कर ही रहा था कि, तभी `बचाओ, बचाओ' की आवाज करता हुआ, भय के मारे

अत्यंत ही काँपता हुआ एक पुरुष अपराजित के पास आ गया और चरणों में गिरकर अपने प्राणों की भिक्षा मांगने लगा ।

तत्काल, अपनी शरण में आए हुए को बचाने की भावना से अपराजित ने कहा, ``तुम निश्चिंत रहो, तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं होगा ।''

उसी समय विमलबोध ने कहा, ``इसको वचन देने के पूर्व यह कौन है ? अपराधी है या निरपराध ?'' यह जान लेना जरूरी है । यदि यह किसी का अपराधी है तो इसको बचाने का कोई अर्थ नहीं है ।''

मित्र की बात सुनकर अपराजित ने कहा, ``यह अपराधी है या निरपराध, यह मुझे नहीं सोचना है, इसने मेरी शरण स्वीकार की है, इसलिए इसे बचाना, यह मैं अपना फर्ज समझता हूँ । क्षत्रियपुत्र अपने कर्तव्य पालन में कभी पीछे नहीं हटते हैं । शरणागत की रक्षा करना, यह तो मेरा धर्म है ।''

कुमार इस प्रकार बोल ही रहा था कि, तभी `मारो ! मारो ! पकडो ! पकड़ो !' बोलते हुए कुछ शस्त्रधारी सैनिक वहाँ आ गए और अपराजित से बोले, ``तुम इस दुष्ट को मुक्त कर दो, यह चोर है, इसने हमारे नगर को लूटा है, अतः हम इसे मारने के लिए आए हैं ।''

वह सुनकर अपराजित ने कहा, ``यह मेरी शरण में आया है, मैंने इसे शरण दी है, अतः इसका रक्षण करना मेरा परम कर्तव्य है, मेरी शरण में आनेवाले को कोई इन्द्र भी खत्म नहीं कर सकता है तो तुम्हारी क्या ताकत है ?''

यह सुनकर वे सैनिक कुमार के साथ लडने के लिए तैयार हुए तो कुमार ने भी अपना ऐसा अद्‌भुत पराक्रम दिखाया कि वे सभी सैनिक दुम दबाकर भाग गए । उन सैनिकों ने जाकर अपने स्वामी कौशल महाराजा से बात की । राजा ने उस चोर को खत्म करने के लिए अपना बलवान सैन्य दल भेजा, परंतु अपराजित ने उस को भी पराजित कर दिया । अपने सैन्य की हार देखकर राजा स्वयं सेना सहित आया ।

अपराजित ने वह चोर मंत्री-पुत्र को सौंप दिया और वह स्वयं शस्त्र के साथ राजा के सामने चल पड़ा ।

जिस प्रकार सिंह अपने अद्‌भुत पराक्रम से विशालकाय हाथी के

भी गंडस्थल को भेद डालता है, उसी प्रकार पराक्रमी अपराजित हाथी के दाँतों पर से हाथी के ऊपर चढ़ गया और उसने महावत को धक्का मारकर नीचे फेंक दिया । उसके बाद वह राजा के सैन्य के साथ युद्ध करने लगा ।

तभी राजा के मंत्री ने अपराजित को पहिचान लिया । उसने राजा को कहा, ``राजन् ! यह तो हरिनंदी महाराजा का पुत्र है ।''

उसी समय राजा ने युद्धविराम की घोषणा कर दी । उसने कुमार को कहा, ``मैं तुम्हारे पराक्रम से खुश हूँ'' इतना कहकर राजा ने प्रेम से उसका आलिंगन किया और बोला, ``तुम मेरे महल में चलो ।''

मंत्री-पुत्र ने उस तस्कर को छोड़ दिया और वह भी अपराजित के साथ कौशल महाराजा के महल में आ गया । कौशल राजा ने अपनी पुत्री अपराजित को प्रदान की । राजकुमार और मंत्री पुत्र दोनों आनंद पूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगे ।

कुछ दिन वहां रहने के बाद एक दिन अपराजित अपने मित्र के साथ रात्रि में ही अन्यत्र चला गया । अपराजित कालिकादेवी के मंदिर के पास से जा रहा था, तभी उसे एक स्त्री का करुण स्वर सुनाई दिया । वह स्त्री जोरों से चिल्ला रही थी, ``मुझे बचाओ ! बचाओ !''

स्त्री के करुण रुदन को सुनकर अपराजित का हृदय पिघल गया । अपने स्वार्थ को गौणकर वह स्त्री के रुदन के स्वर की दिशा में बढ़ा ।

सत्वशाली पुरुष प्रसंग आने पर चुप नहीं बैठ सकते, वे आपत्तिग्रस्त को मदद किए बिना नहीं रहते ।

अपराजित ने देखा कि एक विद्याधर किसी स्त्री को उठाना चाहता है और वह स्त्री उस विद्याधर के सिकंजे में से छूटना चाहती है ।

उसी समय अपराजित ने उस विद्याधर को ललकारते हुए कहा, ``अरे नीच ! एक अबला स्त्री पर अपना पराक्रम क्या दिखलाता है ? ताकत हो तो मेरे से युद्ध कर ।''

बस, चंद क्षणों में ही अपराजित और विद्याधर के बीच भयंकर युद्ध प्रारंभ हो गया । अपराजित ने अपना अद्‌भुत पराक्रम बतलाया । उस

विद्याधर ने अपराजित को नागपाश से बाँध दिया, परंतु अपराजित ने जीर्ण वस्त्र की भाँति उस पाश को तोड़ डाला, उसके बाद उस विद्याधर ने अनेक शस्त्रों से प्रहार किए परंतु अपराजित के आगे उसका कुछ वश न चला। अंत में अपराजित के प्रहार से वह विद्याधर मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा।

अपराजित के रूप-सौंदर्य व अद्‌भुत पराक्रम को देख वह स्त्री उसके प्रति मोहित हो गई।

थोड़ी देर बाद वह विद्याधर होश में आ गया। अपराजित ने पुनः उसे युद्ध के लिए ललकारा। उस समय पश्चात्ताप करते हुए उस विद्याधर ने कहा, ``मैं अपनी हार स्वीकार करता हूँ, तुमने स्त्रीवध के पाप से रोककर मुझे नरक में जाने से बचा लिया है, तुम्हारा उपकार मैं कभी भूल नहीं सकता।

``हे कुमार ! मेरे वस्त्र के एक भाग में मणि और मूलिका हैं, मणि के पानी के साथ मूलिका को घिसकर मेरे घाव पर लगाओगे तो मैं स्वस्थ हो सकूंगा।''

अपराजित ने वैसा ही किया। वह विद्याधर एकदम स्वस्थ हो गया।

विद्याधर ने अपना परिचय देते हुए कहा, ``मैं श्रीषेण विद्याधर का पुत्र सूरकांत हूँ। यह कन्या रथनुपूर के महाराजा अमृतसेन की पुत्री रत्न-माला है। किसी ज्ञानी महापुरुष ने कहा था कि हरिनंदी राजा का पुत्र अपराजित इस रत्नमाला का पति होगा। इस बात को जानकर यह कन्या अपराजित के प्रति अनुरागवाली बनी।''

उस रत्नमाला को अपनी पत्नी बनाने की मैंने बहुत कोशिश की, परंतु उसने कहा, ``मेरे देह का स्पर्श अपराजित करेगा या फिर अग्नि, इसके सिवाय तीसरा कोई नहीं।''

``उसके इस वचन से मैं कुपित हो गया। अनेक विद्याओं को साधकर पुनः उसे अपनी बनाने की कोशिश की, परंतु उसने स्पष्ट इन्कार ही कर दिया, अतः आज मैंने उसका अपहरण किया है और उसके टुकड़े टुकड़े करके आग में डालने के लिए तैयार हुआ हूँ, परंतु तुमने इसको बचा लिया और मुझे भी इस महाभयंकर पाप से बचाकर दुर्गति-गमन से बचा दिया है। आपके उपकार को मैं कैसे भूल पाऊंगा ?''

``आप कृपा करें और अपना परिचय दें ।'' उसी समय मंत्री-पुत्र ने राजकुमार अपराजित का परिचय दिया । अपनी मनोकामना को पूर्ण होते देख राजकुमारी रत्नमाला अत्यंत ही खुश हो गई । उसके बाद रत्नमाला के माता-पिता भी वहाँ आ गए ।

अमृतसेन महाराजा और कीर्तिमती महारानी ने खूब धूमधाम के साथ अपनी पुत्री रत्नमाला का पाणिग्रहण अपराजित के साथ कराया ।

अपराजित के वचन से अमृतसेन राजा ने अपनी पुत्री का अपहरण करनेवाले सूरकांत को अभय प्रदान किया ।

उस समय सूरकांत ने अपराजित को निःस्पृही देख मणि, मूलिका और वेष परिवर्तन करने के लिए एक गुटिका मंत्री-पुत्र को प्रदान की ।

अपराजित ने अपने श्वसुर को कहा, ``अभी मैं अन्यत्र जा रहा हूँ, अतः मेरे नगर में पहुँचने के बाद आप अपनी पुत्री को भेज देना ।''

इतना कहकर मंत्री-पुत्र के साथ अपराजित राजकुमार जंगल की ओर बढ़ गया ।

वनभ्रमण के लिए आगे बढ रहे अपराजित और विमलबोध भयंकर जंगल में आ पहुँचे । अपराजित को तीव्र प्यास लगी । विमलबोध चारों ओर पानी की शोध के लिए निकल पड़ा, परंतु उसे कहीं भी थोड़ा भी पानी नहीं मिला, वह हताश होकर मूल स्थान पर आ गया, परंतु उस स्थान पर उसने अपराजित को नहीं देखा, उसने चारों ओर `अपराजित ! अपराजित !' के नाम से आवाज दी परंतु कहीं से भी उसे कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला, वह एकदम हताश हो गया । वह एक पागल की भाँति चारों ओर मित्र की शोध करने लगा, परंतु उसे कहीं भी अपराजित नहीं मिला, आखिर में वह मूर्च्छित होकर धरती पर ढल पड़ा ।

उसी समय विमलबोध की शोध में निकले हुए दो विद्याधर वहाँ आ गए और बोले- हम तुम्हारी ही शोध में यहाँ आए हैं । अपराजित का अपहरण भी हमने ही किया था । वह घटना इस प्रकार बनी है-`भुवनभानु विद्याधर की दो पुत्रियाँ कमलिनी और कुमदिनी के भावी वर के बारे में जब किसी ज्ञानी को पूछा गया तो उन्होंने अपराजित का नाम बताया ।

अपराजित का नाम सुनकर हम सब खुश हो गए । चारों ओर अपराजित की शोध की गई और इस जंगल में उनका पता चला । उन्हें मान सहित राजा के पास ले जाया गया ।

वहाँ जाने के बाद जब उन्हें दोनों राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण करने के लिए निवेदन किया तो उन्होंने कहा, ``पहले मेरे मित्र विमलबोध को यहाँ ले आओ, उसके बाद ही मैं आगे की बात करूंगा ।''

``अपराजित के इस आग्रह को देख हम तुम्हारी शोध में आए हैं, अतः तुम हमारे साथ नंदिपुर चलो ताकि आगे का कार्य निर्विघ्नतया पूर्ण हो सके ।''

विद्याधरों की इन बातों को सुनकर विमलबोध खुश हो गया और वह तत्क्षण साथ में चलने के लिए तैयार हो गया ।

थोड़ी ही देर में विमलबोध नंदिपुर पहुँच गया । उसके बाद महाराजा ने अपनी पुत्रियों के लग्न महोत्सव की तैयारी की ! बड़ी धुम-धाम के साथ महाराजा ने विवाह महोत्सव मनाया ।

अपराजित राजकुमार वहाँ सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने लगां ।

सूरकांत विद्याधर के द्वारा दिए गए मणि-मूलिका के प्रभाव से अपराजित अपने सभी मनोरथों को पूर्ण कर रहा था ।

एक शुभ दिन अपराजित अपने मित्र के साथ मंदिरपुर नगर में आया । नगरजनों के उदास चेहरों को देख अपराजित ने उसका कारण पूछा तो पता चला कि राज्य के लोभ से किसी दुष्ट ने राजमहल में प्रवेश कर राजा को शस्त्रों से घायल कर दिया है । शस्त्रों के प्रहार से राजा की मृत्यु तो नहीं हुई है, परंतु उसके शरीर पर अनेक घाव हो गए हैं । इस बात को जानते ही अपराजित ने वहाँ के मंत्री को कहा, ``उन घावों को ठीक करने के लिए मेरे पास व्रणलेप है, अतः मुझे राजा के पास ले चलो ।''

उसी समय अपराजित को राजा के पास ले जाया गया । अपराजित ने मणि व मूलिका के प्रभाव से राजा के घावों को भर दिया । राजा एकदम स्वस्थ हो गए ।

राजा ने अपराजित का परिचय पूछा तो विमलबोध ने राजकुमार का सारा परिचय दिया । इसे जानकर सुप्रभ राजा खुश हो गए और बोले,

``अहो ! यह तो मेरे मित्र हरिनंदी राजा का पुत्र है ।''

अपराजित के गुणों से आकर्षित होकर महाराजा ने अपनी पुत्री रंभा का पाणिग्रहण अपराजित के साथ करा दिया ।

अपराजित कुछ दिनों तक वहीं पर रहा ।

एक बार अपराजित अपने मित्र विमलबोध के साथ घूमता हुआ कुंडपुर नगर में आ पहुँचा । वहाँ पर नगर के बाहर केवली भगवंत के दर्शन हुए । अपराजित ने उन्हें भावपूर्वक वंदना की और भावपूर्वक केवली भगवंत की धर्मदेशना का श्रवण किया ।

उसके बाद अपराजित ने केवली भगवंत को पूछा, ``भगवंत ! मैं भव्य हूँ या अभव्य ?''

केवली भगवंत ने कहा, ``तुम भव्य हो और पांचवें भव में भरत क्षेत्र में 22 वें तीर्थंकर नेमिनाथ के रूप में पैदा होकर मोक्ष में जाओगे, उस समय विमलबोध तुम्हारा गणधर बनकर मोक्ष में जाएगा ।''

अपने भविष्य को सुनकर अपराजित और विमलबोध दोनों खुश हो गए ।.उनके आनंद का पार न रहा ।

जनानंदपुर नगर में जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था, उनके धारिणी नाम की महारानी थी । एक शुभ दिन धारिणी गर्भवती बनी और उसकी कुक्षि में रत्नवती की आत्मा का अवतरण हुआ ।

गर्भकाल व्यतीत होने पर धारिणी महारानी ने एक पुत्रीरत्न को जन्म दिया । उस पुत्री का नाम प्रीतिमती रखा गया । धीरे धीरे प्रीतिमती बड़ी होने लगी । यौवन वय में प्रवेश के साथ ही वह स्त्रियों की 64 कलाओं में निषुण बनी ।

एक बार महाराजा ने अपनी पुत्री प्रीतिमती के वर के बारे में पूछा तो प्रीतिमती ने कहा, ``जो मुझे विद्या-कला में हरा देगा, उसीके साथ मैं पाणि-ग्रहण करूंगी ।''

पुत्री की इस इच्छा को जानकर उसके योग्य वर की शोध के लिए जितशत्रु राजा ने अनेक राजकुमारों को आमंत्रण भेजा ।

भ्रमण के रसिक अपराजित को भी जब इस बात का पता चला तो वह भी अपने मित्र के साथ जनानंद नगर में पहुँच गया ।

स्वयंवर मंडप में अनेक राजकुमार उपस्थित हुए थे, उस समय अन्य राजकुमारों को हराकर जब प्रीतिमती राजकुमारी अपराजित के सामने खड़ी हुई तो पूर्वजन्म के स्नेह-संबंध के कारण बिना किसी प्रकार की परीक्षा किए प्रीतिमती ने अपराजित के गले में वरमाला डाल दी ।

अपने लिए सुयोग्य वर को प्राप्तकर प्रीतिमती के आनंद का पार न रहा । महाराजा ने खूब धूमधाम के साथ अपनी पुत्री का लग्न महोत्सव मनाया ।

एक शुभ दिन हरिनंदी राजा ने अपने पुत्र अपराजित को राजगद्दी सौंपकर भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । अपराजित ने न्याय-नीति पूर्वक वर्षों तक राज्य का पालन किया । तत्पश्चात् उसके हृदय में भी दिन-प्रतिदिन धर्मभावना बढ़ने लगी ।

एक दिन अपराजित राजा ने अनंगदेव नाम के सार्थवाह पुत्र को देखा । वह अनंगदेव अनेक मित्रों के साथ आनंदपूर्वक वन-विहार कर रहा था । अनेक गरीबों को वह दान भी दे रहा था, उसके इस वैभव-विलास को देख राजा ने सोचा, ``अहो ! यह सब पुण्य का विलास है ।''

कुछ दिनों के बाद अपराजित ने दूसरा ही दृश्य देखा, एक नवयुवक की अकाल मृत्यु हो गई थी, इस कारण उसका समग्र परिवार करुण कल्पांत रुदन कर रहा था ।

बाद में पता चला कि यह वही अनंगदेव है, जो दो दिन पूर्व वैभव-विलास के साथ मौज-मजा कर रहा था ।

पुण्य के प्रभाव और पाप के कटु विपाक को देख अपराजित का हृदय वैराग्य भाव से वासित हो गया ।

एक शुभ दिन विशाल समृद्धि को छोडकर अपराजित राजा ने अपनी पत्नी प्रीतिमती और छोटे भाई सुर और सोम के साथ भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

संयम-स्वीकार के बाद अपराजित ने निर्मल संयम धर्म का पालन किया । जिसके फलस्वरूप अपराजित मुनि अत्यंत ही समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्तकर ग्यारहवें आरण देवलोक में देव के रूप में पैदा हुए ।

सातवाँ-आठवाँ भव

शंखकुमार-देवभव

इसी जंबुद्वीप के भरत क्षेत्र में हस्तिनापुर नगर । वहाँ श्रीषेण महाराजा न्याय और नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते थे । दिग्-दिगंत तक उनकी यश पताका फैली हुई थी । उनकी पट्टरानी का नाम श्रीमती था ।

एक दिन अपराजित की आत्मा का आरण देवलोक में से च्यवन हुआ और श्रीमती की कुक्षि में उनका अवतरण हुआ । उस समय श्रीमती महारानी ने अत्यंत ही निर्मल शंख को अपने मुख-मंडल में प्रवेश करते हुए देखा । शंख के स्वप्न को देखकर महारानी खुश हो गई ।

जब उसने अपने प्राणप्यारे प्रियतम को बात कही तो वे भी अत्यंत खुश हो गए ।

महाराजा ने कहा, ``तू शंख के समान उज्ज्वल कीर्तिवाले पुत्र की जननी बनेगी ।''

दिन-प्रतिदिन महारानी की चित्त की प्रसन्नता बढ़ती ही गई और एक शुभ दिन मंगल वेला में महारानी ने तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

महाराजा ने धूमधाम के साथ पुत्रजन्म का महोत्सव मनाया और उस बालक का **'शंखकुमार'** नाम रखा ।

धीरे-धीरे शंखकुमार बड़ा होने लगा । वय की वृद्धि के साथ वह शस्त्र व शास्त्रकला में भी निपुण बना ।

इधर गतभव के मित्र देव विमलबोध भी अपनी देवपर्याय के आयुष्य को पूर्ण कर उसी नगर में गुणनिधि मंत्री के पुत्र के रूप में पैदा हुआ, उसका नाम मतिप्रभ रखा गया ।

पूर्वभव के स्नेह-संबंध के कारण राजपुत्र शंखकुमार और मतिप्रभ के बीच गाढ़ मैत्री हो गई ।

हस्तिनापुर नगर के पास में ही चंद्र नाम का पर्वत था, उस पर्वत से शिशिरा नाम की नदी निकलती थी । समरकेतु नाम के पल्लीपति ने उस

पर्वतीय भूभाग पर अपने डेरे तंबू डाल दिए थे । वह हमेशा आसपास के गाँवों को लूटता रहता था । ग्राम्यजन उसके आतंक से अत्यंत ही परेशान थे ।

एक बार लोगों ने जाकर राजा को शिकायत की । लोगों की शिकायत को सुनकर तत्काल ही श्रीषेण राजा समरकेतु पर आक्रमण करने के लिए तैयार हो गया । लेकिन शंखकुमार को जैसे ही इस बात का पता चला उसने पिता को निवेदन करते हुए कहा- ``पिताजी ! इस कार्य के लिए आपको जाने की आवश्यकता नहीं है, आप मुझे आदेश करें, मैं युद्ध के लिए जाऊंगा ।''

पिता ने कहा, ``बेटा ! तू अभी छोटा है, समरकेतु अत्यंत ही शक्तिशाली है ।''

``पिताजी ! आप मुझे आशीष दें, आपकी कृपा के बल से मैं युद्ध-भूमि में अवश्य ही विजयश्री प्राप्त करूंगा ।''

पुत्र के अति आग्रह को देख राजा ने अपनी सहमति दे दी ।

शंखकुमार ने अत्यंत ही सावधानी पूर्वक समरकेतु पल्लीपति की छावनी पर आक्रमण किया । समरकेतु ने भी अपना अद्‌भुत पराक्रम बतलाया । दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध खेला गया, परंतु आखिर समरकेतु को हार खानी पड़ी । उसने शंख की शरणागति स्वीकार कर ली ।

पल्लीपति ने जितना भी धन आदि लूटा था, वह सब शंख के चरणों में धर दिया । शंख ने भी वह सारी संपत्ति अपने अपने मालिको को सौंप दी ।

एक बार शंख रात्रि में सोने की तैयारी कर रहा था, तभी उसके कानों में किसी स्त्री का करुण रुदन सुनाई दिया । रुदन को सुनकर शंख अपने बिछौने से खड़ा हो गया ।

सत्त्वशाली पुरुष किसी को आपद्‌ग्रस्त देख मदद किए बिना नहीं रहते हैं ।

उसी समय शंख आपद्‌ग्रस्त स्त्री को मदद करने की भावना से हाथ में नंगी तलवार लेकर निकल पड़ा । धीरे-धीरे रात्रि का अंधकार बढ़ता जा रहा था, वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ने लगा, त्यों-त्यों स्त्री के करुण स्वर की वे

चित्कारें और अधिक सुनाई देने लगीं ।

कुछ ही देर में शंख उस स्त्री के पास पहुँच गया और बोला, ``बहिन ! तुम क्यों भयभीत हो ? तुम्हारी रक्षा के लिए मैं आ पहुँचा हूँ, तुम्हें जो भी समस्या हो, उसे कहो । मैं तुम्हारा रक्षण करने के लिए वचनबद्ध हूँ ।''

शंख के इन सहानुभूतिपूर्ण शब्दों को सुनकर उस प्रौढ़ स्त्री ने कहा, ``चंपापूरी के महाराजा जितारि और महारानी कीर्तिमती की पुत्री का नाम यशोमती है, मैं उस यशोमती की धायमाता हूँ । अनेक पुत्रों को जन्म देने के बाद राजपुत्री का जन्म हुआ होने से, राजा-रानी ने खूब उत्साह-उल्लास के साथ यशोमती का पालन-पोषण किया ।

यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के बाद चंद्रमा की सोलह कलाओं की भाँति यशोमती का रूप-सौंदर्य एकदम खिल उठा । राजा को उसके योग्य वर की चिंता सताने लगी । अनेक-अनेक प्रयत्न करने पर भी यशोमती के लिए सुयोग्य वर प्राप्त नहीं हो पाया, यह जानकर राजकुमारी के आघात का पार न रहा ।

रूप से गर्विष्ठ बनी हुई राजकुमारी पुरुषद्वेषिणी बन गई, इससे राजा की चिंता में और वृद्धि हो गई ।

राजा ने अनेक गुणवान राजकुमारों के चित्र मंगवाए, परंतु यशोमती के चित्त को एक भी चित्र पसंद नहीं पड़ा ।

परंतु एक दिन एक राजकुमार के गुणश्रवण से यशोमती एकदम प्रसन्न हो गई । उसके हृदय में रहा पुरुष-द्वेष का भाव दूर हो गया ।

शंख ने पूछा- ``किस राजकुमार के नाम व गुण से यशोमती को इतना आकर्षण हुआ ?''

धायमाता ने कहा, ``हस्तिनापुर के महाराजा श्रीषेण के पुत्र शंख राजकुमार के बारे में ज्योंही यशोमती ने सुना, उसके हृदय में रहा पुरुषद्वेष का भाव सर्वथा दूर हो गया और वह उसके प्रति प्रीतिवाली हो गई और उसने शंख राजकुमार के साथ ही पाणिग्रहण करने का निश्चय कर लिया ।

``राजकुमारी के इस निर्णय को जानकर महाराजा भी प्रसन्न हो गए।''

``राजा ने सोचा, ``पुत्री का यह निर्णय एकदम ठीक है। इधर मणिशेखर नाम के विद्याधर को ज्योंही इस बात का पता चला कि यशोमती शंख राजकुमार के साथ लग्न करना चाहती है, त्योंही उसने अवसर देखकर यशोमती का अपहरण कर लिया, अपहरण के समय मैं भी उसके साथ थी, किसी भी हालत में मैं यशोमती को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थी, परंतु उस विद्याधर ने बलात्कार से मुझे अलग कर दिया...और मैं यहाँ आ गिरी। वह विद्याधर उस यशोमती को लेकर कहाँ चला गया, इसका कोई पता नहीं है, बस, यशोमती के वियोग के कारण ही यहाँ मैं रो रही हूँ।''

धायमाता को आश्वासन देते हुए शंखकुमार ने कहा, `बहिन ! तुम निश्चिंत रहो, मैं किसी भी हालत में यशोमती को उस विद्याधर के सिकंजे में से मुक्त किए बिना नहीं रहूंगा।' यह सुनकर उस के आनंद का पार न रहा।

धायमाता को साथ में लेकर शंख ने यशोमती की शोध चालू की।

इधर धायमाता से अलग होने के बाद यशोमती जोर-जोर से क्रंदन करने लगी। यशोमती को रोती हालत में देख वह विद्याधर उसे एक गुफा में ले गया।

गुफा में बैठी यशोमती रुदन कर रही थी और वह विद्याधर उसे समझाने की कोशिश कर रहा था।

यशोमती की शोध में इधर-उधर भटकता हुआ शंख उसी गुफा के पास आ गया। धायमाता ने ज्योंही रुदन का स्वर सुना, वह तुरंत ही पहिचान गई कि यह रुदन यशोमती का ही है।

उसी समय शंख उस गुफा के पास आ गया। उसने विद्याधर को समझाते हुए कहा, ``तू इसे छोड़ दे अन्यथा मुझ से लड़ने के लिए तैयार हो जा।'' अपनी धायमाता के साथ आए साहसी वीर पुरुष को देख यशोमती के आश्चर्य का पार न रहा।

उसने सोचा, ``भाग्य योग से मेरा रक्षण करनेवाला आ गया है।''

उसी समय शंख और विद्याधर के बीच भयंकर युद्ध छिड़ गया, उस समय शंखकुमार ने अपना अद्‌भुत पराक्रम दिखलाया । शंख के पराक्रम को देखकर वह विद्याधर अत्यंत ही प्रभावित हुआ । उसने शंख की शरणागति स्वीकार की, तत्पश्चात् उस विद्याधर ने कहा, ``आपके इस पराक्रम को देख आप मुझे साहसवीरों में शिरोमणि लगते हो । आपके जैसा साहस मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखा है, आपके इस पराक्रम से ज्ञात होता है कि आप कोई राजकुमार होने चाहिए ।'

इधर धायमाता और यशोमती भी शंख राजकुमार का परिचय पाने के लिए अत्यंत ही समुत्सुक थीं ।

उसी समय शंख ने अपना परिचय देते हुए कहा, ``मेरा नाम शंख है ।''

``क्या आप श्रीषेण महाराजा के सुपुत्र हो ?''

शंख ने कहा, ``हाँ !''

तत्काल उस विद्याधर ने शंख से अपने अपराध की क्षमायाचना की ।

वह विद्याधर उन सभी को वैताढ्य पर्वत पर आए सिद्धायतन में ले गया । सिद्धायतन में रहे जिन बिम्बों के दर्शन आदि कर, वह विद्याधर उन सभी को चंपापुरी ले गया ।

चंपापुरी में आने के बाद एक शुभ दिन शंख राजकुमार का यशोमती के साथ बड़ी धूमधाम से लग्न-महोत्सव संपन्न हुआ ।

पूर्व भव के दो भाई सूर और सोम भी इस भव में शंख राजा के छोटे भाई बने ।

एक दिन ज्ञानी गुरु भगवंत की धर्मदेशना का श्रवणकर, शंखकुमार को अपना राज्य सौंपकर श्रीषेण महाराजा ने भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

दीक्षा अंगीकार कर वे निर्मल संयम धर्म की आराधना-साधना में संलग्न ही गए ।

एक दिन राजर्षि श्रीषेण को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । श्रीषेणकेवली

पृथ्वीतल को पावन करते हुए हस्तिनापुर नगर में पधारे ।

शंख राजा भी केवली भगवंत की धर्मदेशना सुनने के लिए आया ।

महाज्ञानी की धर्मदेशना सुनने के बाद शंख राजा ने केवली भगवंत को पूछा, ``प्रभो ! यशोमती के प्रति मेरे दिल में जो रागभाव है, उसके पीछे क्या कारण है ?''

केवली भगवंत ने कहा, ``यह यशोमती गतभवों में तुम्हारी पत्नी थी, इसी कारण तुम्हें उसके प्रति तीव्र राग है ।''

देव का एक भवपूर्ण कर तुम इसी भरत क्षेत्र में नेमिनाथ नाम के बाईसवें तीर्थंकर बनोगे और यह यशोमती राजीमती नाम की राजकन्या बनेगी, उस भव में दीक्षा अंगीकार कर यह राजीमती भी अजरामर मोक्ष प्राप्त करेगी ।

अपने पूर्व भवों के स्नेह बंधन को जानकर उस बंधन को तोड़ने के लिए शंखकुमार भागवती दीक्षा अंगीकार करने के लिए तैयार हो गए ।

और एक शुभ दिन अपने पुत्र को राजगद्दी सौंपकर शंख राजा ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

भागवती-दीक्षा अंगीकार करने के बाद शंख मुनि संयम धर्म की निर्मल आराधना-साधना करने लगे ।

जगत् के जीवों की भयंकर दुर्दशा को देख शंख महामुनि की अंतरात्मा में जगत् के सभी जीवों के कल्याण की सर्वोच्च भावना जागृत हुई । इस भावना के साथ उन्होंने वीश स्थानक तप की भी निर्मल आराधना-साधना की । इस उत्कृष्ट आराधना के फलस्वरूप उनकी आत्मा ने तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित किया ।

अंत में, अत्यंत ही समाधिपूर्वक अपने देह का त्यागकर वे चौथे अनुत्तर विमान में देव के रूप में पैदा हुए ।

नौवां भव

नेमिकुमार

श्री नेमिनाथ प्रभु के पांचों कल्याणक चित्रा नक्षत्र में हुए अर्थात् चित्रा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण कल्याणक हुए ।

वर्षाऋतु के चौथे मास और सातवाँ पक्ष अर्थात् कार्तिक वदी 12 के दिन मध्य रात्रि में अपराजित नाम के महाविमान में 32 सागरोपम के अपने दीर्घ आयुष्य को पूर्णकर इस जंबुद्वीप के भरतक्षेत्र के शौर्यपुर नगर में समुद्रविजय महाराजा की महारानी शिवादेवी की कुक्षि में चित्रा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर नेमिनाथ प्रभु का अवतरण हुआ, जो उनका च्यवन कल्याणक कहलाया ।

शिवादेवी माता ने भी चौदह स्वप्नों के दर्शन किए ।

वर्षाऋतु के पहले महिने, दूसरे पखवाड़े में अर्थात् श्रावण सुदी पंचमी के दिन मध्य रात्रि में चित्रा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर नीरोग शरीरवाली शिवादेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

प्रभु के जन्म के साथ 56 दिक्कुमारिकाओं का आसन कंपित हुआ । उन्होंने आकर प्रभु का जन्म महोत्सव एवं शुचिकर्म किया । सौधर्म इन्द्र का आसन कंपित होने से इन्द्र ने भी मेरुपर्वत पर प्रभु का जन्माभिषेक महोत्सव किया । समुद्रविजय राजा ने भी प्रभु के जन्म निमित्त 12 दिन का भव्य महोत्सव किया ।

नेमिनाथ प्रभु जब माँ के गर्भ में थे, तब माता ने स्वप्न में रिष्ट रत्नमय चक्र की धारा देखी थी । रिष्ट शब्द अमंगलवाची होने से उस अमंगल को दूर करने के लिए प्रभु का **'अरिष्ट नेमि'** इस प्रकार नाम रखा गया ।

नेमिकुमार और शंखेश्वर पार्श्वप्रभु

एक बार, सेनपल्ली गांव के पास श्री कृष्ण वासुदेव और जरासंध के बीच युद्ध हुआ । जरासंध के पक्ष में अन्य सभी राजा थे जब कि श्री कृष्ण के पक्ष में 56 कोटि यादव थे ।

इस युद्ध में श्री कृष्ण की सेना के पराक्रम को देख जरासंध ने कृष्ण के सैन्य पर जरा विद्या का प्रयोग किया । उस विद्या के प्रयोग से कृष्ण का सैन्य व्याधि व जरावस्था से पीड़ित होकर मूर्च्छित-सा हो गया ।

मात्र श्री कृष्ण, बलदेव वे नेमिकुमार पर इस विद्या का प्रभाव नहीं पड़ा ।

अपने सैन्य की इस दुर्दशा को देखकर निराश हुए कृष्ण ने नेमिकुमार को जरा विद्या की मुक्ति का उपाय पूछा ।

नेमिकुमार ने कहा, ``नागराज धरणेन्द्र के पास रही प्रतिमा के न्हवनजल से तुम्हारे सैन्य की मूर्च्छा दूर हो जाएगी ।''

श्रीकृष्ण ने अट्ठम तप किया । सैन्य के रक्षण की जवाबदारी नेमिकुमार ने ली ।

अट्ठम के प्रभाव से धरणेन्द्र ने पार्श्वप्रभु की प्रतिमा कृष्ण को प्रदान की । श्रीकृष्ण खुश हो गए । पार्श्वप्रभु के न्हवनजल के छिड़काव से कृष्ण का सैन्य पुनः जागृत हो गया । जरासंध और श्री कृष्ण के बीच पुनः युद्ध हुआ । उस युद्ध में श्री कृष्ण की जय हुई ।

युद्ध में विजय की प्राप्ति के प्रतीक रूप श्री कृष्ण ने शंख बजाया । वहाँ पर शंखपुर नगर बसाया गया । उस गाँव में प्रभुजी का भव्य जिनालय तैयार कर उसमें प्रभुजी को बिराजमान किया गया ।

उस गाँव के नाम से वे प्रभुजी शंखेश्वर पार्श्वनाथ के नाम से प्रख्यात हुए । लगभग 86,500 वर्ष से यह प्रतिमा यहाँ पूजी जा रही है ।

भारत में विद्यमान जिन-प्रतिमाओं में प्रायः सबसे अधिक प्राचीन श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ की प्रतिमा है, जो करोड़ों देवताओं और मनुष्यों के द्वारा पूजी गई है । जिसके दर्शन वंदन पूजन और भक्ति कर हजारों-लाखों

आत्माओं ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, प्राप्त सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाया है और अपने चारित्र के अंतरायों को तुड़वाया है ।

शंखेश्वर गाँव में सात फणों से अलंकृत श्वेतवर्णीय अत्यंत ही मनोहर यह प्रतिमाजी 71`` ऊँची है । दर्शक के मन को प्रसन्नता से भर देनेवाली है ।

अनेक पूर्वाचार्यें, महर्षियों ने अपने ग्रंथों के मंगलाचरण के रूप में श्री शंखेश्वर पार्श्वप्रभु को याद किया है ।

अजोड़ महिमावंत इस प्रतिमा का इतिहास भी रोमांचित कर देने-वाला है ।

जंबुद्वीप का यही भरत क्षेत्र ।

गत उत्सर्पिणी काल में हुए नौवें तीर्थंकर परमात्मा दामोदर प्रभु का शासन ।

एक बार अष्ट महाप्रातिहार्य और चौंतीस अतिशयों से युक्त दामोदर परमात्मा पृथ्वीतल को पावन करते हुए किसी नगर में पधारे ।

प्रभु के आगमन के साथ ही चारों निकाय के असंख्य देवताओं का आगमन हुआ...रत्न-सुवर्ण और रजतमय गढ़ से युक्त समवसरण की रचना हुई । प्रभु की देशना सुनने के लिए हजारों नर-नारी और पशु-पंखी भी समवसरण में पहुँचे ।

प्रभु ने जगत् के जीवों के उद्धार के लिए धर्मदेशना दी ! उस देशना को सुनकर हजारों आत्माओं में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश पैदा हुआ...मिथ्यात्व का अंधकार दूर हुआ ।

उसी समय मानव-पर्षदा में रहे असाढ़ी श्रावक ने प्रभु को पूछा, ``मुझे यह संसार अत्यंत ही भयंकर लग रहा है । हे प्रभो ! मेरी आत्मा इस भव बंधन से कब मुक्त बनेगी ?''

असाढ़ी श्रावक के इस प्रश्न को सुनकर दामोदर परमात्मा ने कहा, ``हे भाग्यशाली ! आगामी चौबीसी के तेबीसवें पार्श्वनाथ प्रभु के गणधर बनकर उसी भव में तुम मोक्ष जाओगे ।''

प्रभु के मुख से अपने भावी मोक्ष को जानकर असाढ़ी श्रावक का मन प्रसन्नता से भर आया । उसके अन्तर्मन में पार्श्व प्रभु का नाम गुंजने लगा ।

उसने उसी दिन से पार्श्व प्रभु के नामस्मरण द्वारा प्रभु की नाम-भक्ति चालू की...उसके बाद उसने पार्श्वप्रभु की प्रतिमा भरवाई और वह उसकी नियमित पूजा-भक्ति करने लगा ।

उसने जीवन पर्यंत पार्श्वप्रभु की खूब भक्ति की । असाढ़ी श्रावक मरकर सौधर्म देवलोक में पैदा हुआ । उसने अपने अवधिज्ञान द्वारा पूर्व भव में निर्मित पार्श्वप्रभु की प्रतिमा को देखा । वह देव उस प्रतिमा को देवलोक में ले गया । उसने देवलोक में भी असंख्य वर्षों तक इस प्रतिमा की खूब पूजा, भक्ति व अर्चना की ।

सौधर्म इन्द्र ने भी दीर्घकाल तक इसकी पूजा की...फिर सौधर्म इन्द्र ने यह प्रतिमा ज्योतिष देवलोक के सूर्यदेव को प्रदान की । उसने भी दीर्घकाल तक इसकी पूजा-भक्ति की । इसके बाद यह प्रतिमा चंद्र विमान में, फिर सौधर्म, ईशान व प्राणत देवलोक में दीर्घकाल तक पूजी गई । उसके बाद लवण समुद्र के अधिष्ठायक वरुणदेव, नागकुमार तथा भवनपति देवों ने इसकी पूजा-भक्ति की ।

चंद्रप्रभ स्वामी के समवसरण में सौधर्म इन्द्र ने अपनी मुक्ति के बारे में पूछा ।

प्रभु ने कहा, ``तुम्हारी मुक्ति पार्श्वनाथ प्रभु के शासन में होगी ।''

पार्श्वप्रभु के शासन में अपनी मुक्ति को जान सौधर्मेन्द्र ने भी दीर्घ-काल तक इसी प्रतिमा की पूजाभक्ति की ।

उसके बाद नागराज धरणेन्द्र किसी ज्ञानी महात्मा के पास इस प्रतिमा के माहात्म्य को जान इसे अपने आवास में ले आया और पूजा-भक्ति करने लगा ।

नेमिकुमार की प्रेरणा से ही श्रीकृष्ण को इस प्रतिमा की प्राप्ति हुई और उस प्रतिमा के जल छंटकाव के प्रभाव से जरासंध के द्वारा किया गया जरा विद्या का प्रयोग नष्ट हुआ ।

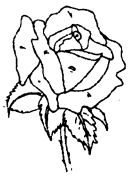

लग्न-अस्वीकार

यौवन के प्रांगण में प्रवेश किए नेमिकुमार को एक दिन शिवादेवी ने कहा, ``बेटा ! विवाह के लिए अपनी सहमति प्रदान कर । तू मेरे मनोरथ को पूर्ण कर ।''

नेमिकुमार ने कहा, ``माताजी ! मेरे योग्य कन्या मिलेगी, तब मैं अपनी सहमति दूंगा ।''

एक बार अपने मित्रों के साथ खेलते हुए नेमिकुमार श्रीकृष्ण वासुदेव की आयुधशाला में चले गए । कुतूहल- प्रिय मित्रों के आनंद-प्रमोद के लिए वासुदेव के सुदर्शन-चक्र को सहजता से उठा दिया और कुम्हार के चाक की तरह उसे अपनी अंगुली पर घुमा दिया...उसके बाद सारंग धनुष को भी कमल के नाल की तरह मोड़ दिया । तत्पश्चात् कौमोदिकी गदा को भी लकडी की तरह उठा ली और अंत में पांचजन्य शंख को भी मुँह में लगाकर जोर से फूंका...उस फूंक से इतनी जोरदार आवाज हुई कि उस भयंकर आवाज को सुनकर हाथी भी अपने बंधन स्तंभों को तोड़कर तूफान मचाते हुए इधर-उधर भागने लग गए...वासुदेव के घोड़े भी बंधन तोड़कर अश्वशाला में से बाहर आ गए और भागने लगे । सारे शहर में कोलाहल मच गया ।

वासुदेव के प्रत्येक रत्न हजार-हजार देवताओं से अधिष्ठित होते हैं । सामान्य व्यक्ति, उन्हें उठाना तो दूर रहा, उनके समीप भी नहीं जा सकता है...परंतु तीर्थंकर परमात्मा तो अतुलबली व विशिष्ट पुण्यशाली होते हैं, इस कारण उनके लिए कोई भी कार्य असंभव नहीं है । नेमिकुमार भी भावी तीर्थंकर होनें से उनके लिए कुछ भी कठिन नहीं था ।

पांचजन्य शंख की ध्वनि सुनकर श्रीकृष्ण ने सोचा, `वह कौन है, जिसने यह शंख बजाया है ? उस शंख को बजाने की ताकत किसी में नहीं है । क्या मेरा कोई दुश्मन पैदा हो गया है ?' इस प्रकार व्याकुल चित्तवाले श्रीकृष्ण तत्काल आयुधशाला में आ गए और वहाँ नेमिकुमार को देखकर मनोमन अनेक संकल्प-विकल्प करने लगे ।

``क्या नेमिकुमार मुझसे भी अधिक बलवान हैं ?'' यह जानने के लिए श्रीकृष्ण ने कहा, ``हम अपने बल की परीक्षा करें ।'' इतना कहकर

श्रीकृष्ण नेमिकुमार को अखाड़े में ले गए ।

नेमिकुमार ने कहा, ``बल की परीक्षा के लिए धूल में आलोटने की क्या जरूरत है ? एक-दूसरे की भुजा को मोड़कर भी हम अपने बल की परीक्षा कर सकते हैं ?''

श्रीकृष्ण ने अपनी सहमति दे दी । सबसे पहले श्रीकृष्ण ने अपना हाथ लंबा किया...नेमिकुमार ने उस हाथ को एक झटके में तुरंत ही मोड दिया । उसके बाद नेमिकुमार ने अपना हाथ लंबा किया । उस हाथ को मोड़ने के लिए श्रीकृष्ण ने खूब महेनत की, परंतु श्रीकृष्ण उस हाथ को नहीं मोड़ सके । वे उस हाथ पर लटकने लगे...फिर भी उस हाथ को मोड़ न पाए ।

श्रीकृष्ण चिंतातुर हो गए । वे सोचने लगे, ``यह नेमिकुमार मेरा राज्य ले लेगा । सचमुच दुनिया में स्थूल बुद्धिवाले श्रम करते हैं और उसका फल तो बुद्धिशाली उठा लेते हैं । समुद्र का मंथन तो शंकर ने किया, परंतु उस मंथन से प्राप्त रत्न देवता ले गए । भोजन को चबाने की मेहनत दांत करते हैं, जबकि भोजन का स्वाद तो जीभ ही लेती है ।''

श्रीकृष्ण अपने भाई बलदेव के साथ विचार-विमर्श करने लगे । श्री नेमिकुमार तो मुझसे भी अधिक बलवान है, वे मुझे हराकर मेरा राज्य प्राप्त कर लेंगे ।

उसी समय आकाश में देववाणी हुई, ``हे कृष्ण ! पूर्व में नमिनाथ प्रभु ने कहा है कि बाईसवें नेमिनाथ प्रभु, कुमार अवस्था में ही दीक्षा लेनेवाले हैं ।''

इस आकाश-वाणी को सुनकर श्रीकृष्ण निश्चिंत हो गए...फिर भी सत्य के निश्चय के लिए श्रीकृष्ण, नेमिकुमार को अपनी गोपियों के साथ जल-क्रीडा हेतु सरोवर में ले गए ।

श्री नेमिकुमार तालाब में स्नान कर बाहर आए, तब श्रीकृष्ण की अन्य स्त्रियाँ सुवर्ण की पिचकारी में केसर मिश्रित पानी नेमिकुमार के ऊपर फेंकने लगी ।

कुछ गोपियाँ फूलों की गेंद बनाकर प्रभु की छाती पर फेंकने लगी । कुछ स्त्रियाँ अपने कटाक्ष-बाणों से नेमिकुमार के मन को बींधने का प्रयास करने

लगी ।

काम-कला में कुशल ऐसी कुछ स्त्रियाँ हंसी-मजाक के शब्द बोलने लगी ।

उसी समय आकाश-वाणी हुई, ``हे मुग्धाओं ! जन्मसमय इन्द्रों ने एक योजन लंबे नलीवाले बड़े-बड़े कलशों से जिनको मेरु पर्वत पर स्नान कराया था, फिर भी वे लेश भी व्याकुल नहीं हुए थे तो क्या तुम्हारी इन पिचकारियों के जल से व्याकुल हो जाएंगे ?''

श्री नेमिकुमार भी उन सब के आनंद-प्रमोद के लिए उन पर पिचकारी फेंकने लगे । इस प्रकार जल-क्रीड़ा के बाद तालाब के तट पर सिंहासन पर बैठे नेमिकुमार को उन गोपियों ने घेर लिया ।

रुक्मिणी बोली, ``हे नेमिकुमार ! लग्न करे तो पत्नी का भी जीवन-निर्वाह करना पड़े । बस, इसी भय से आप विवाह करने से घबराते हो, जरा देखो, आपके भाई तो 32,000 स्त्रियों का निर्वाह कर रहे हैं । आप इतने कायर क्यों बनते हो ?''

सत्यभामा ने कहा, ``ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों ने भी विवाह किया था । विषय-सुख और राज्य-सुख भोगा था । उनके भी अनेक पुत्र हुए । फिर भी वे अंत में मोक्ष गए । आप तो कोई नए ही मोक्षमार्गी बने हो । हे देवर ! आप खूब विचार करो । गृहस्थपने का स्वीकार कर अपने बंधुजनों को शांत करो ।''

जांबवती बोली, ``हे कुमार ! आपके पहले हरिवंश कुल में भूषण समान श्री मुनिसुव्रतस्वामी पैदा हुए हैं, उन्होंने भी गृहस्थ जीवन को स्वीकार कर पुत्रोत्पत्ति के बाद दीक्षा अंगीकार की थी और अंत में वे मोक्ष में गए थे ।''

पद्मावती ने कहा, ``हे कुमार ! इस संसार में पत्नी बिना मनुष्य की शोभा नहीं है । अकेले पुरुष का कोई विश्वास भी नहीं करता है । पत्नी रहित अकेला पुरुष तो विट् कहलाता है ।''

तभी **गांधारी** बोली, ``घर पर आए मेहमानों की भक्ति पत्नी ही करती है । संघ निकालना, उत्सव करना, विवाह का महोत्सव करना आदि अच्छे कार्य पत्नी के बिना शोभते नहीं हैं ।''

गोरी ने कहा, ``अज्ञानी ऐसे पक्षी भी दिन में तहाँ-जहाँ भटक कर

रात्रि में अपनी पत्नी के साथ घौसले में रहते हैं, क्या देवरजी ! आप में उन पक्षी जितनी भी समझ नहीं है ?''

लक्ष्मणा बोली, ``स्नान आदि सर्व अंग की शोभा में विचक्षण, प्रीतिरस में सुंदर, विश्वास-पात्र और दुःख में सहायता करनेवाली पत्नी के बिना कौन है ?''

अंत में **सुसीमा** ने कहा, ``स्त्री के बिना घर आए मेहमानों की तथा मुनियों की सेवा भक्ति कौन करेगा ? अकेला पुरुष शोभा भी नहीं देता है ।''

गोपियों के द्वारा इस प्रकार युक्ति-प्रयुक्ति द्वारा समझाने पर भी नेमिकुमार तो मौन ही रहे । वे थोडे से मुस्कराये । उनकी मुस्कराहट को **'न निषिद्धं अनुमतं'** जिसका निषेध न हो उसका स्वीकार ही माना जाता है । इस प्रकार निषेध न होने पर उसे स्वीकृति समझकर गोपियों ने घोषणा कर दी कि नेमिकुमार लग्न के लिए तैयार हो गए हैं ।

`लग्न के लिए नेमिकुमार की सम्मति को जानकर समुद्रविजय ने श्री कृष्ण को कहा, `नेमिकुमार के योग्य कन्या की शोध की जाय ।'

नेमिकुमार रुपवान् और गुणवान् है तो उसके योग्य कन्या भी वैसी ही चाहिये । इस प्रकार विचार कर नेमिकुमार के योग्य कन्या की सभी शोध करने लगे ।

नेमि के योग्य कन्या की चिंता में डूबे कृष्ण को देखकर सत्यभामा ने कहा, `सद्गुणों से सुशोभित, कमल के समान नेत्रोंवाली मेरी बहिन राजीमती नेमिकुमार के लिए एकदम योग्य हैं, अतः उसके लिए योग्य प्रयत्न किया जाय तो अच्छा रहेगा ।'

सत्यभामा की इस बात को सुनकर श्री कृष्ण ने कहा, `सचमुच, योग्य सलाह देकर तूने मुझे चिंता मुक्त कर दिया है ।' इतना कहकर श्री कृष्ण उग्रसेन राजा को मिलने के लिए रवाना हो गए ।

बिना किसी पूर्व समाचार के श्री कृष्ण के आगमन को जानकर उग्रसेन राजा के आश्चर्य का पार न रहा ।

उग्रसेन राजा अपने सिंहासन पर से खडे हो गए । उन्होंने श्री कृष्ण को बैठने के लिए आसन प्रदान किया ।

उग्रसेन राजा ने हाथ जोडकर श्री कृष्ण को कहा, `अचानक आपका

आगमन कैसे हुआ ? आपने इस सेवक को क्यों नहीं बुला दिया ?' आपका संदेश मिलते ही मैं स्वयं आपकी सेवा में उपस्थित हो जाता ।

मेरा यह घर, यह लक्ष्मी, यह पुत्री और यह शरीर सब कुछ आपके अधीन हैं । आप मुझे आज्ञा फरमाइए, मैं आपके योग्य क्या सेवा करुं ?'

उसी समय प्रसन्न होकर श्री कृष्ण ने कहा, `नेमिकुमार के लिए मैं तुम्हारी पुत्री राजीमती की मांग करने के लिए आया हूँ ।'

इस बात को सुनकर उग्रसेन राजा ने कहा, `अहो ! यह तो मेरा परम सौभाग्य ! नेमिकुमार को अपनी कन्या प्रदान कर मैं अपने आपको धन्य समझता हूँ ।'

श्रीकृष्ण ने नैमित्तिक से पूछा, ``नेमिकुमार व राजीमती के लग्न के लिए कौनसा दिन श्रेष्ठ है ?''

नैमित्तिक ने कहा, ``वर्षा ऋतु में अन्य कोई शुभकार्य नहीं किए जाते हैं तो फिर गृहस्थ जीवन का मुख्य कार्य विवाह तो कैसे किया जाय ?''

समुद्रविजय ने नैमित्तिक को कहा, ``बड़ी मुश्किल से तो नेमिकुमार विवाह के लिए तैयार हो पाए हैं, अतः इस कार्य में थोड़ा भी विलंब करना ठीक नहीं है ।''

समुद्रविजय और श्रीकृष्ण के अति आग्रह को देख नैमित्तिक ने कहा, ``श्रावण सुदी छट्ठ का दिन श्रेष्ठ है ।''

बस, लग्न दिन का निर्णय होते ही समुद्रविजय और उग्रसेन राजा अपने पुत्र-पुत्री के विवाह के लिए जोरशोर से तैयारी करने लगे ।

मूल्यवान वस्त्रों व आभूषणों से अलंकृत होकर नेमिकुमार ने अपने पिता समुद्रविजय आदि दश दशार्ह, केशव, बलदेव आदि विशाल परिवार के साथ अपने महल से प्रस्थान किया । उस समय शिवादेवी आदि विवाह के मंगल गीत गा रही थीं ।

नेमिकुमार का रथ तेजी से आगे बढ़ रहा था । थोड़ी ही दूरी पर राजीमती का महल था ।

नेमिकुमार ने सारथी से पूछा, ``पताकाओं से सुशोभित यह महल किसका है ?''

सारथी ने कहा, ``यह आपके श्वसुर उग्रसेन राजा का महल है ।''

इधर राजीमती अपनी सखियों के साथ वार्ता-विनोद कर रही थी ।

नेमिकुमार के रथ के आगमन को जानकर तत्क्षण वे सखियाँ झरोखे में से दूर से आ रहे नेमिकुमार को देखने लगी । दूर से नेमिकुमार को देखते ही मृगलोचना अपनी सखी चंद्राननाको बोली, ``सखी ! स्त्रियों में राजीमती ही प्रशंसनीय है, जिसे नेमिकुमार जैसे वर की प्राप्ति हुई है ।''

चंद्राननाबोली, ``अद्‌भुत रूपवती राजीमती का सर्जन कर यदि विधाता उसके अनुरूप योग्य वर का संयोग न कराए तो यह विधाता की ही बहुत बडी भूल होगी ।''

वाद्य यंत्रों की आवाज सुनकर राजीमती भी उन सखियों के बीच आ गई और दूर से आ रहे अपने भावी वर को देखने लगी ।

नेमिकुमार को दूर से देख राजीमती बोली, ``अहो ! यह कौन है ? यह साक्षात् पातालकुमार हैं या कामदेव ? या इन्द्र ? सचमुच मेरे पुण्य का समूह ही मूर्तिमंत होकर आ गया है ।''

राजीमती के मनोगत भावों को जानकर प्रीतिपूर्वक हँसी-मजाक करती हुई मृगलोचना बोली, ``हे चंद्राननाा ! यद्यपि यह वर सर्वगुणसंपन्न दिखता है, परंतु उसमें एक दूषण है । किंतु यह दूषण मैं राजीमती के सामने नहीं कहूंगी ।''

चंद्राननाने कहा, ``हे मृगलोचना ! वह दूषण तो मुझे भी ख्याल में है, परंतु इस समय तो मौन रहना ही बेहतर है ।''

उसी समय लज्जा से मध्यस्थता बतलाती हुई राजीमती बोली, ``किसी भी भाग्यशाली कन्या का यह वर हो, परंतु ऐसे गुणसंपन्न वर में भी दोष निकालना यह तो तुम्हारी बालिश चेष्टा ही है ।''

उसी समय दोनों सखियाँ बोलीं, ``राजीमती ! सबसे पहले तो वर गौर वर्णवाला होना जरूरी है । दूसरे गुण तो परिचय होने के बाद पता चलते हैं परंतु तुम्हारा यह वर तो एकदम श्याम है ।''

यह बात सुनकर ईर्ष्या से राजीमती बोली, ``ओहो ! आज मेरा यह भ्रम दूर हो गया है कि तुम चतुर हो । श्याम वर्ण तो अनेक गुणों का कारण है, वह भूषण रूप होने पर भी तुम उसे दूषण रूप कह रही हो ।''

पृथ्वी, चित्रावेलि, अगर, कस्तूरी, मेघ, आँख की कनीनिका, मस्तक के बाल, कसौटी, स्याही तथा रात्रि आदि ये सब वस्तुएँ श्याम होने पर भी महा फलवाली हैं । भोजन में काली मिर्च, चित्र में चारों ओर काली रेखा आदि वस्तुएँ श्याम रंगवाली होने पर भी सफेद वस्तुओं की शोभा बढ़ानेवाली हैं ।

``दुनिया में कई वस्तुएँ सफेद होने पर भी खराब हैं । नमक खारा होता है, बर्फ खेती को जला देता है, अति सफेद शरीरवाला कोढ़ी-रोगी कहलाता है । चूना भी जलाता है ।''

इधर सखियों का वार्तालाप चल रहा था । इसी बीच पशुओं की करुण-पुकार सुनकर नेमिकुमार ने सारथी पूछा, ``हे सारथी ! पशुओं का क्रंदन क्यों सुनाई दे रहा है ?''

सारथी ने कहा, ``आपके विवाह के समय मांस की मिजबानी उडाने के लिए इन पशुओं को बाडे में बंद किया गया है ।''

सारथी की यह बात सुनते ही नेमिकुमार बोले, ``अहो ! इस विवाह को धिक्कार हो, जिसमें इन मूक पशुओं के प्राण लिये जाते हों ।''

कवि यहाँ पशुओं के वार्तालाप की कल्पना करते हुए कहते हैं, प्रभु को देखकर मानों हिरण प्रभु से कहता है, ``हे प्रभो ! मेरे हृदय का हरण करनेवाली इस हिरणी को मत मारो । मैं अपनी प्रियतमा के विरह के दुःख को सहन नहीं कर पाऊंगा ।''

प्रभु को देख हिरणी, हिरण को बोली, ``ये तीन लोक के नाथ अकारण बंधु हैं । तुम इनसे प्रार्थना करो ।''

पत्नी से प्रेरित हिरण ने प्रभु को कहा, ``प्रभो ! हम झरनों का पानी पीते हैं । जंगल में घास खाते हैं और जंगल में रहते हैं । निरपराध ऐसे हमारा आप रक्षण करो ।''

मानों उन पशुओं की पुकार सुनकर प्रभु ने तत्क्षण कहा, ``हे पशुरक्षको ! तुम इन पशुओं को छोड़ दो । मुझे विवाह नहीं करना है ।''

प्रभु की आज्ञा सुनकर बाड़ों में बंद किए गए उन सभी पशुओं को छोड़ दिया गया ।

सारथी ने जब अपना रथ वापस मोड़ लिया, तब समुद्रविजय और शिवादेवी घबराकर तुरंत वहाँ आ गए ।

आँखों में आँसू लाते हुए शिवादेवी बोली, ``हे वत्स ! तू एक बार विवाह कर मुझे पुत्र-वधू का मुख बतला दे ।''

हे वत्स ! तू हमारे प्रमोद रुप वृक्ष को जड़मूल से ही क्यों उखेडते हो ? तुम्हारे लिए तो कृष्ण स्वयं उग्रसेन राजा के पास गए थे । अब तुम स्वीकृत वस्तु को छोडकर कृष्ण आदि यादवों को दुःख क्यों करते हो ? श्री कृष्ण अब उग्रसेन राजा को अपना मुंह कैसे बता पाएंगे ? जीकर भी मरी हुई के समान उस राजीमती कन्या की क्या हालत होगी ? चंद्रमा के बिना रात्रि की शोभा नहीं हैं, उसी प्रकार पति के बिना वह कन्या भी कितनी दुःखी हो जाएगी ? अतः तुम विवाह करके हमें पुत्रवधू का मुख बतलाओ । हमारी इस प्रार्थना का तुम स्वीकार करो ।'

अपने माता-पिता की दर्द भरी इस प्रार्थना को सुनकर नेमिकुमार ने कहा, `हे माताजी ! हे पिताजी ! आप लग्न का आग्रह छोड दो, क्योंकि इस पाणिग्रहण में अनेक प्राणियों को पीडा रही हुई है । प्राणियों की पीडा में आसक्त प्राणी तो दुर्गति को प्राप्त करता है ।

मैं तो मुक्ति का इच्छुक हूँ, अतः उन स्त्रियों के संग में मुझे रस नहीं है । उत्तम पुरुष तो परलोक में हितकारी हो, उसी में प्रवृत्ति करते है, न कि तात्कालिक सुखदायी वस्तु में ।'

नेमिकुमार का अपने माता-पिता के साथ यह वार्तालाप चल ही रहा था, इसी प्रकार अपना आसन कंपित होने कारण नौ लोकांतिक देव प्रभु के समक्ष उपस्थित हुए और बोले, `हे प्रभो ! जगत् के जीवों के हित के लिए आप धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करो ।'

उन लोकांतिक देवों ने समुद्रविजय आदि को भी कहा, `आप हर्ष के स्थान में शोक क्यों करते हो ? ये प्रभु तो दीक्षा अंगीकार करके केवलज्ञान प्राप्तकर तीर्थ की स्थापना करके तीनों लोक को आनंद प्रदान करेंगे ।'

देवों की इन बातों को सुनकर समुद्रविजय ने भी अपना आग्रह छोड दिया ।

इधर राजीमती का दाहिना नेत्र स्फुरित होने लगा । उसने अपनी सखियों से बात की ।

सखियों ने थू-थूकर कहा, ``तेरा यह अमंगल दूर हो ।''

उसी समय नेमिकुमार ने सारथी को कहा, ``तुम अपना यह रथ मोड़ लो, मुझे विवाह नहीं करना है ।''

उसी समय राजीमती, **'हाय ! यह क्या हो गया ?'** कहकर मूर्च्छित होकर भूमि पर ढल पड़ी ।

शीतोपचार के बाद जब वह होश में आई, तब बोली, ``हे यादवकुल के सूर्य ! महाज्ञानी ! आप मुझे छोड़कर कहाँ चले गए ?''

पुनः अपने आपको कहने लगी, `हे निष्ठुर हृदय ! जब तेरा स्वामी दूसरे पर रागवाला हुआ है, तब तू किसके लिए जीवन धारण करता है ?'

अपने स्वामी को ठपका देती हुई बोली, ``हे धूर्त ! यदि तुझे अनेक सिध्धों द्वारा भुक्त, मुक्ति रूपी स्त्री में ही राग था तो विवाह के बहाने तूने मेरी विडंबना क्यों की ?''

उसी समय राजीमती को सांत्वना देती हुई सखियों ने कहा, ``लोक में कहावत है-श्याम रंग का आदमी कभी सरल स्वभाववाला नहीं होता है और कोई हो जाय तो उसे विधाता की भूल ही समझना चाहिए ।

हे सखी ! वह तुमसे प्रेम करना नहीं चाहता है तो तू उससे प्रेम क्यों करती है ? तेरे लिए दूसरा वर ढूंढ लेंगी ।''

यह बात सुनते ही राजीमती ने अपने दोनों कान बंद कर लिये और बोली, **``सखियों ! यह बात मुझे मत कहो, पूर्व में उगनेवाला सूर्य पश्चिम में उग जाय या मेरुपर्वत चलायमान हो जाय, तो भी मैं इस जीवन में नेमिकुमार को छोडकर अन्य किसी को पति नहीं बनाऊंगी ।''**

फिर बोली, ``हे जगत् के स्वामी ! आप अपने घर आए याचकों को उनकी इच्छा से भी अधिक दान देते हैं, परंतु मेरी इच्छा होने पर भी आपने मेरे हाथ पर अपना हाथ नहीं रखा ।''

विरक्त बनी राजीमती बोली, ``यद्यपि इस विवाहप्रसंग पर आपने अपना हाथ मेरे हाथ पर नहीं रखा, परंतु दीक्षा के समय तो आपका हाथ मेरे

सिर पर अवश्य रहेगा ।''

नेमिकुमार ने जैसे ही अपना रथ मोडा । वैसे ही राजीमति अत्यंत ही करुण स्वर से विलाप करने लगी । वह बोली, `हे नाथ ! बिना किसी भूल के आप में अत्यंत रागी ऐसी मुझे छोडकर आप कहाँ चले गए । आप जैसों को भक्तजनों की उपेक्षा करना योग्य नहीं है । महापुरुष तो दोषित ऐसे अपने आश्रित का त्याग नहीं करते है । चंद्रमा अपनी गोद में रहे हिरण का और समुद्र वडवानल का त्याग नहीं करता है ।

यदि आपकी नजर में मैं छोडने योग्य ही थी तो आपने मेरा स्वीकार कर विवाह का आडंबर क्यों किया ? अथवा मेरा ही यह दोष था कि मैंने आपके ऊपर राग किया ।

मेरा स्वीकार करके भी आपने मेरा त्याग कर दिया, इससे तो मेरा रुप, मेरी कला-कुशलता, लावण्य, यौवन और कुल आदि सब कुछ निष्फल चला गया ।

हे प्रभो ! आप पशुओं के ऊपर दयालु थे तो मेरे ऊपर दया क्यों नहीं की ? महापुरुष कभी भी भेदभाव नहीं सकते है ।

आप तो मुक्ति रुपी कन्या में आसक्त हो । यदि देवलोक में रही देवी भी आपके मन को नहीं हर सकती है तो मुझ मानवी की क्या ताकत हैं ?

इस प्रकार विलाप करती हुई राजीमती को उसकी सखियाँ कहने लगी, `हे सखी ! तुं रो मत ! तू शांत हो जा ! नेमिकुमार तो अत्यंत निष्ठूर निकला, उनको तू भूल जा !'

तुम्हारे मन को हरनेवाले अन्य बहुत से यादवकुमार हैं । तेरे रुप के अनुरुप अन्य किसी के साथ तेरा पाणिग्रहण करा देंगे ।

अपनी सखियों के मुख से अन्य राजकुमार के साथ पाणिग्रहण की बात सुनकर राजीमती ने अपने दोनों कान बंद कर दिए ।

राजीमती ने कहा, `रात्रि में कदाचित् सूर्य का उदय हो जाय अथवा सूर्य ठंडा हो जाय तो भी मैं नेमिकुमार को छोड अन्य किसी के साथ पाणिग्रहण नहीं करुंगी ।

यदि विवाह के समय मे नेमिकुमार का हाथ मेरे हाथ पर नहीं रहा तो

दीक्षा के समय में उनका वरद हाथ मेरे मस्तक के ऊपर अवश्य रहेगा ।

राजीमती की इस बात को सुनकर उन सखियों ने कहा, `तुम्हारे इस आशय को धन्य है ।' ऐसी भावना विरल आत्माओं में ही पैदा होती है ।'

राजीमती ने कहा, `आज ही मैंने स्वप्न में ऐरावण हाथी के ऊपर आरुढ पुरुष को देखा, `वह मेरे घर तक आकर शीघ्र ही पर्वत पर जाकर बैठ गया । उसने वहां पर रहकर चार अमृत फल लोगों को प्रदान किए । मैंने भी उन फलों की याचना की तो उसने मुझे भी वे फल प्रदान किए ।'

उसी समय सखियों ने कहा ! हे निष्पापे ! तुम्हारे विघ्न दूर हो चूके है । प्रारंभ में दुःखदायी भी परिणाम में सुख देनेवाला यह स्वप्न है ।'

इस प्रकार नेमिकुमार का ही ध्यान करती हुई राजीमती अपने ही भवन में अपना समय व्यतीत करने लगी ।

यदि नेमिकुमार ने मेरा त्याग कर दिया है तो मुझे दीक्षा लेना ही लाभकारी हैं, ताकि अगले जन्म में मुझे इस प्रकार का दुःख भोगना नहीं पडे ।

सती स्त्री पति के मार्ग का ही अनुसरण करनेवाली होती हैं, अतः यह बात भी सिद्ध हो जाएगी ।

प्रभु के बंधु रथनेमि राजीमती के अद्‌भुत रुप और लावण्य को देखकर उसके प्रति मोहित हो गए । राजीमती को अपनी बनाने के लिए वे स्वयं को प्राप्त अमूल्य वस्तुओं की भेंट राजीमती को देने लगे ।

`भाई के स्नेह से सब भेंट मुझे देते हैं ।' ऐसा मानकर वह भेटों का सहर्ष स्वीकार करने लगी ।

रथनेमि ने सोचा, यह मेरी भेटों का स्वीकार कर रही हैं, अतः मुझ पर अनुरक्त है ।

एक दिन अवसर देखकर अपने दिल की बात करते हुए रथनेमि ने राजीमती को कहा, `हे सुलोचने । विरक्त बने हुए नेमिकुमार ने तेरा त्याग कर दिया है तो तूं खेदमत कर । उसे तू भूल जा । तू मुझे पति के रुप में स्वीकार कर अपने यौवन को सफल कर । जिस प्रकार भ्रमर मालती के फूल को चाहता हैं, उसी प्रकार मैं भी तुझे दिल से चाहता हूँ ।'

रथनेमि की इस बात को सुनकर राजीमती ने कहा, `यद्यपि नेमिकुमार ने मेरा त्याग कर दिया हैं तो भी मैं उन्ही की शिष्या बनूंगी । तुम्हारी इस प्रार्थना का स्वीकार नहीं करुंगी ।'

राजीमती की इस बात को सुनकर, एक बार तो रथनेमि मौन हो गया, परंतु कुछ समय के बाद पुनः उसकी कामवासना जागृत हो गई और वह पुनः राजीमती के पास भोग की प्रार्थना करने लगा ।

उसने कहा ! क्या सूखे वृक्ष पर भ्रमर आसक्त होता हैं, तो तूं विरक्त ऐसे नेमि पर रक्त क्यों हैं ? यदि तूं मुझे पति के रुप में स्वीकार कर ले तो मैं जीवन पर्यंत तेरा दास बनने के लिए तैयार हूँ । भोगों का स्वीकार कर अपने जन्म को सफल कर दे ।'

रथनेमि की इस बात को सुनकर राजीमती ने उसी समय थोडा सा दूध पिया, उसके बाद मदन फल को सुंघकर उसने उल्टी की । फिर उसने रथनेमि को कहा, `तुम इसे पीओ ।'

रथनेमि ने कहा, `क्या मैं कुत्ता हूँ ?' वमन को तो कुत्ता चांटता है ।

उसी समय स्मित करके राजीमती ने कहा, `क्या तुम यह जानते हो ?' नेमिकुमार ने मेरा वमन कर दिया है तो फिर मुझे भोगने की इच्छा कर कुत्ते जैसा आचरण क्यों करते हो ?

राजीमती की इस बात को सुनकर रथनेमि मौन हो गया और अपने महल में चला गया ।

महासती राजीमती धर्म ध्यान और तप की साधनापूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगी ।

भोगावली कर्म का उदय हो तो ही तीर्थंकर परमात्मा लग्न जीवन और राज सत्ता का स्वीकार करतें है । भोगावली कर्म का क्षय हो गया हो तो न उन्हें लग्न मंजूर होता है और न ही राज सत्ता का स्वीकार ।

दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक

नेमिनाथ प्रभु 300 वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे । उसके बाद लौकांतिक देवों ने आकर प्रार्थना की, ``हे प्रभो ! जगत् के जीवों के उद्धार के लिए आप धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करो ।''

प्रभु ने सांवत्सरिक दान दिया । तत्पश्चात् वर्षाऋतु के पहले महीने, दूसरा पक्ष अर्थात् श्रावण सुदी 6 के दिन पहले प्रहर में देव, मनुष्य और असुरों के समूह के साथ उत्तराकुरा नाम की पालकी में बैठकर द्वारिका नगरी के मध्य भाग से निकल कर नेमिकुमार रैवत उद्यान में आए ।

वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे पालकी में से बाहर आए । उसके बाद अपने ही हाथों से वस्त्र-अलंकार उतारकर पंचमुष्टि लोचकर चोविहार छठ के तप पूर्वक चित्रा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर इन्द्र द्वारा दिए गए देवदूष्य को ग्रहण कर नेमिकुमार ने एक हजार पुरुषों के साथ गृहस्थ जीवन का त्यागकर भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद तप-त्याग और तितिक्षा की साधना पूर्वक अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्मों को खपाने लगे । इस प्रकार 54 दिन व्यतीत होने के बाद 55 वें दिन, वर्षाकाल के तीसरे मास, पाँचवें पक्ष, अर्थात् आसो वदी अमावस्या के दिन के पिछले प्रहर में गिरनार पर्वत के शिखर पर वेतस नाम के वृक्ष के नीचे चोविहार अट्ठम के तप पूर्वक चित्रा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्मों का संपूर्ण क्षय हो जाने से नेमिनाथ प्रभु को केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ।

रैवताचल पर्वत पर सहसाम्रवन में जब प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तब उद्यानपालक ने जाकर श्रीकृष्ण को समाचार दिए । समाचार सुनकर श्रीकृष्ण भी खुश हो गए । बड़े आडंबर के साथ प्रभु के दर्शन-वंदन के लिए आए । उस समय राजीमती भी साथ में आई थी ।

प्रभु की धर्मदेशना सुनकर वरदत्त आदि दो हजार राजाओं ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की । श्रीकृष्ण ने पूछा, ``राजीमती के दिल में आपके प्रति इतना स्नेह क्यों है ?'' प्रभु ने

कहा, ``इसके साथ मेरा नौ भवों का संबंध रहा ।''

1) पहले भव में मैं धनकुमार राजपुत्र था, तब यह धनवती नाम की मेरी पत्नी थी ।

2) दूसरे भव में हम दोनों पहले देवलोक में देव-देवी के रूप में पैदा हुए ।

3) तीसरे भव में मैं चित्रगति नाम का विद्याधर था और यह मेरी रत्नवती नाम की पत्नी थी ।

4) चौथे भव में हम दोनों चौथे देवलोक में देव हुए ।

5) पाँचवें भव में मैं अपराजित राजा था और यह प्रियतमा नाम की मेरी रानी थी ।

6) छठे भव में हम लोग ग्यारहवें देवलोक में देव हुए ।

7) सातवें भव में मैं शंख राजा था और यह यशोमती रानी थी ।

8) आठवें भव में हम दोनों अपराजित देवलोक में देव बने ।

9) नौवें भव में मैं नेमिकुमार बना और यह राजीमती हुई ।

इन नौ भवों से निरंतर जुड़े संबंध के कारण उसके दिल में मेरे प्रति राग रहा है ।

प्रभु ने वहाँ से विहार कर दिया ।

एक बार पुनः नेमिनाथ प्रभु रैवताचल पर्वत पर आए । प्रभु की धर्मदेशना सुनकर अनेक राजकन्याओं के साथ राजीमती ने तथा प्रभु के भाई स्थनेमि ने भी प्रभु के पास दीक्षा ले ली ।

रथनेमि को प्रतिबोध

एक छोटी सी चिनगारी भयंकर दावानल का रुप ले सकती है । जंगलों में भयंकर दावानल पैदा हो जाते हैं, उन सब का मूल तो एक छोटी सी चिनगारी ही होती है ।

बस, इसी प्रकार एक छोटा-सा अशुभ निमित्त एक महान् साधक आत्मा का भी क्षण भर में पतन करा देता है । इसीलिए तो अशुभ निमित्तों से सदासर्वथा दूर रहने का निर्देश दिया गया है ।

बाईसवें तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी नेमिनाथ प्रभु के भाई-स्थनेमि !

प्रभु की वैराग्यवाहिनी धर्मदेशना का अमृत-पान कर रथनेमि ने युवावस्था में चारित्र धर्म स्वीकार किया था और वे और निर्मल चारित्र धर्म का पालन कर रहे थे ।

एक बार रथनेमि मुनि गिरनार पर्वत की किसी गुफा में कायोत्सर्ग ध्यान में लीन बने हुए थे । उसी समय अचानक आकाश बादलों से घिर गया । चारों ओर अंधकार छा गया । आकाश में बिजलियां चमकने लगी और देखते ही देखते क्षण भर में जोरदार वर्षा चालू हो गई । चारों ओर पानी-पानी हो गया ।

उस समय एक श्रमणी, जिसका नाम राजीमती थी...और जिसने यौवन वय में ही नेमिनाथ प्रभु के वरद हस्तों से भागवती प्रव्रज्या स्वीकार की थी, गिरनार पर्वत से नीचे उतर रही थी ।

स्वयं अकेली होने पर भी जिसके मुखारविंद पर भय की कोई रेखा नहीं थी । आत्मा की अमरता का मुक्त कंठ से गान करनेवाली वह साध्वी आत्मानंद की मस्ती में संयम जीवन का मधुर आस्वाद ले रही थी ।

अचानक मार्ग में ही वर्षा का आगमन हो जाने से राजीमती श्रमणी के सारे वस्त्र भीग गए । 'चालू वर्षा में कहीं गमनागमन नहीं करना चाहियें', इस आचार मर्यादा को अच्छी तरह से जानते हुए भी कहीं वृक्ष आदि का आश्रय न मिलने पर वह श्रमणी क्रमशः आगे बढ़ रही थी ।

अचानक उसे सामने एक गुफा दिखाई दी । उसने सोचा, `इस गुफा में जाकर मैं अपने वस्त्रों को ठीक कर दूं ।'

गुफा में अंधकार तो था ही...परंतु गुफा में प्रवेश करने वाली श्रमणी को अंधकार की विशेष अनुभूति रही ।

`इस गुफा में उस समय कौन हो सकता हैं ?' इस प्रकार मनोमन ही एकांतता का निश्चय कर वह राजीमती श्रमणी अपने अंग पर से भीगे वस्त्रों को दूर करने लगी ।

अचानक आकाश मे बिजली चमक उठी । उस बिजली के प्रकाश में वहां ध्यान में खड़े स्थनेमि मुनि ने राजीमती के वस्त्र रहित देह को देखा । उनकी ध्यान धारा वहीं पर खंडित हो गई...और उनके रोम-रोम में कामाग्नि भड़क उठी ।

स्थनेमि मुनि क्षणभर में साधक मिटकर कामुक बन गए । उनकी चिंतन धारा बदल गई । क्षणभर पूर्व जो जगत् की अनित्यता और आत्मा की नित्यता के ध्यान में लीन थे..जो अपने ध्यान के माध्यम से जगत् को अशुचिमय जान रहे थे । राजुल की देहलता के दर्शन के साथ ही उन्हें उसी के संग में स्वर्ग और मोक्ष की कल्पना दिखाई देने लगी ।

स्थनेमि अपनी साधक अवस्था को भूल गए ।

अर्थ और काम के सेवन में जिन्होंने साक्षात् नरक के दर्शन किए थे...आज वे ही स्थनेमि मुनि स्त्री-संसर्ग में स्वर्ग सुख के दर्शन करने लग गए । इतना ही नहीं, वे अपने मुनिजीवन की आचार-मर्यादा को भी भूल गए ।

`भाषा-मर्यादा के लोप द्वारा साधु अपनी आत्मा का अधः पतन न कर दे, इसके लिए भगवान ने साधु की भाषा पर नियंत्रण रखने के लिए भाषा समिति और वचन गुप्ति रुपी दो चौकीदार रखे हैं...परंतु स्थनेमि मुनि ने उन दोनों चौकीदारों की उपेक्षा कर दी...और वाणी स्वातंत्र्य को प्राप्त कर उस राजीमती साध्वी के पास काम भोग की प्रार्थना करने लगे ।

नदी में जब बाढ़ आ जाती हैं, तब वह अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन किए बिना नहीं रहती हैं...बस, इसी प्रकार काम-क्रोध आदि अंतरंग शत्रु

के वशीभूत बनी हुई आत्मा भी अपने साध्वाचार की मर्यादा का लोप किए बिना नहीं रहती ।

रथनेमि बोल उठे, `राजीमती ! यौवन का उपवन अभी पूरा-पूरा खिला हुआ हैं-इसका आनंद लूट ले । धर्म-ध्यान की साधना के लिए यह वय नहीं है, धर्म ध्यान तो वृद्धावस्था में भी कर देंगे...अभी तो भोगी भ्रमर बनकर यौवन का आनंद ले ले ।'

रथनेमि की शब्द-ध्वनि कान में पड़ते ही राजुल समझ गई । जल्द-बादी में रथनेमि कुछ अकार्य न कर बैठे...इसके पूर्व राजुल ने अपने आपको संभाल दिया...तुरंत ही उसने अपने वस्त्र ठीक कर दिए ।

सचमुच, अंधकार, यौवन, एकांत और स्त्री का मिलन ये काम की चांडाल चौकड़ी है । खिलते हुए यौवन में जब ये निमित्त मिल जाते हैं तो अच्छे-अच्छे साधक का भी अधः पतन हो जाता है ।

रथनेमि का मानसिक पतन हो चुका था...परंतु, राजुल एक सती साध्वी थी । उसने देखा, `काम की आग में गिरने की तैयारी करने वाली इस आत्मा को अभी जागृत नहीं किया तो ये अपनी आत्मा को पतन के गर्त में डूबा देंगे ।'

राजीमती ने सोचा,. `पतन की खाई में गिर जाए इसके पूर्व इस काम रुपी हाथी को ज्ञान रुपी अंकुश से वश कर लेना जरुरी हैं ।' `इस प्रकार विचार कर वह बोली, हे देवर ! मुनिवर ! आप अपने मन को शुभ ध्यान में स्थिर रखों...उस ध्यान से ही आपका कल्याण होने वाला है । यादव कुल में जन्में नेमिनाथ प्रभु के आप लघु-बंधु हो । नेमिनाथ प्रभु ने मेरा वमन (त्याग) कर दिया है । आप इस वमन को चाटने के लिए कैसे तैयार हुए ? नेमिनाथ प्रभु और आपके आचरण में इतना बड़ा अंतर क्यों ? परस्त्री-गमन से तो प्राणी नरक में जाता हैं और भवांतर में दुर्लभबोधि बनता है ।

चारित्र से भ्रष्ट होकर साध्वी के साथ जो अनाचर करता हैं, वह आत्मा इस संसार में भयंकर दुःखों की भाजन बनती है ।

मेरी काया तो अशुचि-अपवित्रता से भरी हुई है । ऊपर की इस चमड़ी को देखकर आप मुझ पर मोहित क्यों हो रहे हों ?

मैंने भी संयम स्वीकार किया हैं और आपने भी महाव्रतों का पवित्र वेष धारण किया है । काम की पराधीनता से तो इन पवित्र महाव्रतों का खंडन ही होने वाला है ।

हे मुनिवर ! आप शास्त्रों के ज्ञाता हो । अगंधन कुल में उत्पन्न हुआ सर्प कभी भी वमन किए विष का पुनः पान नहीं करता है । योगी पुरुष तो अगंधन कुल में उत्पन्न हुए सांप के समान होते है । जिन भोगों का वमन कर दिया हैं, मुनि उन भोगों की कभी इच्छा नहीं करता है । नीच कुल में भी जो प्रवृत्ति नहीं होती हैं, ऐसी चेष्टा करते हुए आपको शर्म आनी चाहियें ।'

राजीमती की सिंह गर्जन ने रथनेमि पर जादुई असर किया । वे एकदम चोंक उठे । काम-विह्वल बनी उनकी अंतरात्मा में से काम की वासना धीरे-धीरे विलीन होने लगी ।

राजीमती के वचनों ने रथनेमि की सुषुप्त आत्मा को पुनः जागृत कर दिया ।

उनकी अंतरात्मा में पश्चात्ताप पैदा होने लगा...और उनकी आँखों में से पश्चात्ताप के आंसु बहने लगे । उन्हें अपनी भूल समझ में आ गई ।

वे दोनों उस गुफा में से बाहर आए । वर्षा बंद हो चुकी थी । आकाश स्वच्छ था...चारों और प्रकृति का खुशनुमा वातावरण था । सूर्य के सोनेरी किरणों से वातावरण में आह्लादकता छा गई थी ।

राजीमती पुनः नेमिनाथ प्रभु के दर्शन के लिए गिरनार पर्वत पर चढ़ने लगी ।

रथनेमि भी नेमिनाथ प्रभु के दर्शन के लिए आगे बढ़े । प्रभु के चरणाविंद में पहुंचकर उन्होंने अपने पाप का निवेदन किया और पुनः प्रायश्चित्त ग्रहण कर अपनी आत्मा को पवित्र स्वर्ण की भांति शुद्ध बना दिया ।

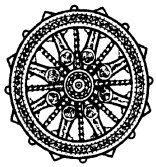

ढंढण अणगार

द्वारिका के अधिपति कृष्ण महाराजा के एक पुत्र का नाम था-ढंढण कुमार !

रुप और लावण्य की साक्षात् मूर्ति समान ढंढण कुमार ने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया । शस्त्र और शास्त्रकला में अत्यंत निपूण ढंढण कुमार, कामदेव की भांति प्रतीत होता था । कृष्ण महाराजा ने अनेक रुपवती कन्याओं के साथ अपने पुत्र ढंढण कुमार का पाणिग्रहण कराया । भोग सुखों में मस्त ढंढण कुमार के दिन अत्यंत ही आनंदपूर्वक व्यतीत होने लगे ।

एक बार पृथ्वीतल को पावन करते हुए नेमिनाथ प्रभु द्वारिका नगरी में पधारें । देवताओं ने आकर तीन गढ़ से युक्त अत्यंत ही अद्‌भुत समवसरण की रचना की ।

कृष्ण महाराजा को ज्योंहि प्रभु के आगमन का पता चला, त्योंहि वे भी अपने विशाल परिवार के साथ समवसरण में आए । प्रभु के चरणों में नमस्कार कर कृष्ण महाराजा योग्य स्थान पर बैठ गए ।

इस बार ढंढण कुमार भी कृष्ण महाराजा के साथ समवसरण मे आया हुथा था ।

भव्य जीवों के उपकारी नेमिनाथ प्रभु ने भवनिस्तारिणी वैराग्यमय धर्म देशना प्रारंभ की । परमात्मा ने अपनी धर्मदेशना में जगत् के नग्न स्वरूप का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत किया । **यह संसार स्वार्थमय है ! पापमय है ! और दुःखमय है । संसार के सारे संबंधों में स्वार्थ की बदबू रही हुई है । संसार के क्षणिक सुख के लिए कितने भयंकर पाप करने पड़ते हैं जिसकी सजा आत्मा को भविष्य में परलोक में अवश्य भुगतनी ही पड़ती है । संसार के समस्त सुख, दुःख रूप है, दुःख फलक है और दुःख की परंपरा को ही बढ़ाने वाले है । उन सुखों में राग करने से, उन सुखों में पागल बनने से, उन सुखों में आसक्त बनने से आत्मा का भयंकर अहित ही होता है । भूतकाल में अपनी आत्मा ने देवलोक आदि के भवों में अनंत बार संसार के भोग सुखों का स्वाद लिया है, फिर भी आत्मा को अभी तक**

तृप्ति का अनुभव नहीं हुआ है । संसार के भोग सुख, ज्यों-ज्यों भोगे जाए त्यों-त्यों तृप्ति होना तो दूर रहा, उनको अधिक पाने की तृषा ही बढ़ती जाती है ।

हे महानुभावों ! महान पुण्योदय से तुम्हें उत्तम मानव भव की प्राप्ति हुई है । इस उत्तम भव को प्राप्त कर आत्म कल्याण के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये । इस उत्तम भव को प्राप्त कर प्रमाद के अधीन हो गए तो आत्मा की भयंकर दुर्गति हो जाएगी ।'

परमात्मा के मुखारविंद से इस वैराग्यवाहिनी धर्मदेशना को सुनकर ढंढण कुमार का हृदय वैराग्य रंग से भीना हो गया । उसके हृदय में संसार के प्रति तीव्र वैराग्य की भावना पैदा हो गई और वह संयम लेने के लिए अत्यंत ही उत्सुक बन गया ।

और एक दिन ढंढण कुमार ने अपने माता-पिता की अनुज्ञा प्राप्त कर नेमिनाथ प्रभु के चरण कमलों में भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली ।

नूतन मुनि को हित शिक्षा देते हुए कहा, 'मुनि को मात्र छः क़ारणों से ही आहार ग्रहण करना चाहियें । (१) क्षुधा वेदना के उपशमन के लिए, (२) अन्य मुनियों की वैयावच्च के लिए, (३) संयम के पालन के लिए, (४) शुभ ध्यान में स्थिर रहने के लिए, (५) प्राण रक्षा के लिए और (६) विहार के लिए ही मुनि को आहार ग्रहण करना चाहियें तथा छः कारण उपस्थित होने पर आहार का त्याग करना चाहियें :-

१. रोग आने पर २. मोह का उदय होने पर ३. स्वजनादि का उपसर्ग होने पर ४. जीवदया का पालन करने के लिए ५. तप करने पर तथा ६. शरीर का त्याग करते समय आहार नहीं लेना चाहिए ।'

परमात्मा की इस हित शिक्षा को अस्थिमज्जावत् बनाकर ढंढण अणगार आसक्ति रहित होकर प्रासुक अन्न का उपभोग करते हुए पृथ्वीतल पर विचरने लगे ।

एक बार ढंढण मुनि को अंतराय कर्म का तीव्र उदय हुआ । वे जब भी भिक्षा के लिए जाते तब उन्हें निर्दोष भिक्षा नहीं मिल पाती ।

अपने इस लाभांतराय कर्म के उदय को जानकर ढंढण मुनि लेश भी

उद्विग्न नहीं हुए बल्कि उन्होंने अभिग्रह ले लिया, `जब मुझे अपनी लब्धि से भिक्षा प्राप्त होगी, तभी आहार ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं ।'

इस प्रकार का अभिग्रह लेकर वे पृथ्वीतल पर विचरने लगे, परंतु कहीं से भी उन्हें अपनी आत्म-लब्धि से भिक्षा प्राप्त नहीं हुई ।

एक बार वे प्रभु के साथ द्वारिका नगरी में पधारें । विश्व पूज्य नेमिनाथ प्रभु के शिष्य और तीन खंड के अधिपति कृष्ण महाराजा के पुत्र होने पर भी उन्हें अपनी लब्धि से भिक्षा प्राप्त नहीं हुई ।

एक बार ढंढण मुनि के साथ दूसरे मुनि भी गोचरी के लिए निकलें तो उन्हें भी आहार की प्राप्ति नहीं हुई । इस बात को जानकर किसी मुनि ने नेमिनाथ प्रभु को पूछा, `प्रभो ! ढंढण मुनि ने ऐसा कौन से कर्म का बंध किया हैं, जिस कारण उन्हें अपनी लब्धि से भिक्षा प्राप्त नहीं हो रही हैं ?'

नेमिनाथ प्रभु ने कहा, `ढंढण मुनि के इस पापोदय को जानने के लिए उसके पूर्वभव का वृत्तांत सुनो'

`पूर्वकाल में धान्यपुर नगर में पारासर नाम का ब्राह्मण रहता था । राजा ने उसे किसी गांव से कर वसुली आदि का अधिकार दिया ।'

एक बार उसके अधीन रहे किसान खेत में हल चला रहे थें, भोजन का समय होने पर वे किसान खाने की तैयारी करने लगें । सभी को अत्यंत तीव्र भूख लगी हुई थी । बैल भी थक चुके थें । फिर भी उस पारासर ने उन किसानों को भोजन के लिए अनुमति नहीं दी और बोला, `तुम मेरे खेत में एकबार और हल चला दो, उसके बाद तुम भोजन करना ।'

पराधीन उन किसानों ने अनिच्छा से भी उस पारासर की आज्ञा का पालन किया । किसान व बैलों के भोजन में अंतराय करने से उस पारासर ने अंतराय कर्म का बंध किया ।

वही पारासर अनेक भवों में भटकने के बाद कृष्ण-पुत्र ढंढण बना । किसानों व बैलों के भोजन में विघ्न डालने से बंधे हुए अंतराय कर्म का अभी उदय हुआ है, और उसी के परिणामस्वरूप उसे आहार लाभ में अंतराय हुआ हैं । फिर भी वे मुनि अदीन बनकर उस अलाभ परिषह को सहन कर अपूर्व कर्म निर्जरा कर रहे है ।

प्रभु के मुख से इस बात को सुनकर अन्य महात्मा भी ढंढण मुनि की प्रशंसा करने लगे ।

एक बार नेमिनाथ प्रभु समवसरण में बैठकर धर्मदेशना दे रहे थे । धर्म देशना के अंत में कृष्ण महाराजा ने प्रभु को पूछा, 'हे प्रभो ! आपके इन हजारों मुनिवरों में उत्कृष्ट परिणाम वाले महात्मा कौन हैं ?'

प्रभु ने कहा, 'ऐसे तो अनेक मुनि संयम-तप व परिषहों को सहन कर रहे हैं, परंतु उन सब में उत्कृष्ट परिणाम वाले ढंढण अणगार हैं, जो अलाभ परिषह को अत्यंत ही समतापूर्वक सहन कर रहे हैं ।'

इस बात को सुनकर कृष्ण महाराजा सोचने लगे, धन्य हैं ढंढण मुनि को ! जिन्होंने अपने पवित्र चरित्र द्वारा मेरे कुल को भी उज्ज्वल किया है, और जिसकी प्रशंसा प्रभु भी कर रहे हैं ।

कुछ ही क्षण बाद कृष्ण ने पुनः पूछा, 'हे प्रभो ! वे महात्मा अभी कहाँ हैं ? मैं भी उनके दर्शन करना चाहता हूँ ।'

प्रभु ने कहा, वे महात्मा अभी भिक्षा के लिए गए हुए हैं और वे तुम्हे सामने मिलेंगे ।

इस बात को सुनकर श्री कृष्ण महाराजा हाथी पर बैठकर नगर की ओर आगे बढ़े । कुछ ही समय बाद उन्हें दूर से आ रहे ढंढण अण्गार के दर्शन हुए । महात्मा की काया कृश थी, परंतु उनके मुखमंडल पर अपूर्व तेज था । तुरंत ही वे अपने हाथी पर से नीचे उतरे और उन्होंने महात्मा को तीन प्रदक्षिणा सहित भावपूर्वक वंदना की ।

उसके बाद कृष्ण महाराजा अपने राजभवन की ओर आगे बढ़े ।

इधर जब कृष्ण महाराजा महात्मा को वंदन कर रहे थे, तब यह दृश्य किसी गृहस्थ ने झरोखे में से देख लिया । उसने सोचा, 'ये कोई प्रभावशाली महात्मा लगते है, जिन्हें कृष्ण भी नमस्कार करते है । इस प्रकार विचार कर वह गृहस्थ ढंढण मुनि को अपने घर ले गया और उसने महात्मा को सिंह कोसरिया मोदक बहोराया ।

ढंढण मुनि गोचरी बहोरकर प्रभु के पास आए और बोले, 'हे प्रभो ! आपकी कृपा से आज मेरा अभिग्रह पूर्ण हुआ है ।'

प्रभु ने कहा, `तेरा अभिग्रह अभी तक पूर्ण नहीं हुआ है, यह भिक्षा तुम्हे अपनी आत्मलब्धि से नहीं मिली है, बल्कि कृष्ण द्वारा की गई स्तुति के प्रभाव से मिली है ।

ढंढण मुनि को आहार ग्रहण किए हुए छह मास बीत चुके थे । उनका शरीर कृश बन गया था । फिर भी प्रभु के मुख से अपने अभिग्रह की अपूर्णता जानकर लेश भी दीन नहीं हुए...और तुरंत ही अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उस प्राप्त किए आहार को परठने के लिए स्थंडिल भूमि की ओर आगे बढ़ने लगे ।

सुयोग्य स्थंडिल भूमि में उस मोदक को परठते हुए वे सोचने लगे, `मेरी आहार की आसक्ति को धिक्कार हो ! अहो ! आज प्रभु ने मेरे अभिग्रह का रक्षण किया सो बहुत अच्छा हुआ । केवल ज्ञान के बिना सूक्ष्म भावों को कौन जान सकता है ?'

धन्य हैं उन सिद्ध भगवंतों को ! जो आहार की वृत्ति-प्रवृत्ति में से सर्वथा मुक्त बने हुए है । आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो अणाहारी पद ही है । अहो ! कब वह पद मुझे प्राप्त होगा ?' इस प्रकार अपने पापों की तीव्र आलोचना और सिद्ध स्वरूप के ध्यान में लीन बने ढंढण अणगार उसी समय क्षपक श्रेणी पर चढ़ गए और मोदक को चूर्ण करने की बाह्य क्रिया करते करते उन्होंने आत्मा पर लगे कर्मो को भी चूर-चूर कर दिया । तत्क्षण घातिकर्मों का क्षय हो जाने से उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ । देवताओं ने आकर उनके केवलज्ञान का महोत्सव किया । देवता विरचित स्वर्णकमल पर बैठकर ढंढणमुनि भी भव्य जीवों के प्रतिबोध के लिए धर्मदेशना देने लगे ।

और अंत में आयुष्य की पर्णता के साथ अघाती कर्मो का भी संपूर्ण क्षय कर मोक्ष में चले गए ।

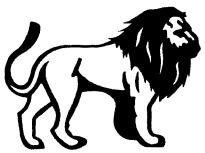

देवकी के छह पुत्रों की दीक्षा

एक बार नेमिनाथ प्रभु विहार करते हुए द्वारिका में पधारे। उस समय देवकी के छह पुत्र मुनि, दो-दो के संघाटक के रूप में देवकी के घर क्रमशः गोचरी हेतु आए। देवकी ने प्रथम संघाटक मुनि को गोचरी बहोराई...फिर दो मुनि आए...उनको भी गोचरी बहोराई...फिर दो मुनि आए, उन मुनियों को देखकर देवकी ने सोचा, `ये दो मुनि वापस बारबार गोचरी हेतु क्यों आते हैं ? क्या उन्हें दिशा-भ्रम हो गया है ? क्या इस नगरी में अन्यत्र भिक्षा नहीं मिलती है ?''

मुनियों ने कहा-``हमें न तो दिशाभ्रम हुआ है और न ही हम पुनःपुनः आ रहे हैं। हम छह भाई हैं, हमारी रूप-सम्पत्ति व आकृति एक समान है। भद्दिलपुर की श्राविका सुलसा के हम छह पुत्र हैं। नेमिनाथ प्रभु की देशना श्रवण कर हमने दीक्षा स्वीकार की है और छठ के पारणे में हम क्रमशः दो-दो मुनि बहोरने के लिए आए हैं।''

मुनियों की बात सुनकर देवकी सोचने लगी-``अहो ! ये छह मुनि कृष्ण की आकृति जैसे ही क्यों दिखाई देते हैं ? इनमें लेश भी अन्तर नहीं है। अहो ! अतिमुक्तक मुनि ने कहा था कि तुझे आठ पुत्र होंगे। क्या ये मेरे ही तो पुत्र नहीं हैं ?'' इस प्रकार विचार कर वह दूसरे दिन नेमिनाथ प्रभु के पास गई और उसने अपने दिल की बात कही।

प्रभु ने कहा-``हे देवकी ! ये छह मुनि तुम्हारे ही पुत्र हैं। हरि नैगमेषी देव ने तुम्हारे उत्पन्न बालक सुलसा के पास रख दिये थे।'' यह बात सुनकर देवकी के स्तनों में दूध भर आया। उसने छह मुनियों की पुनः भावपूर्वक वन्दना की और बोली, ``मेरे पुत्रत्व को प्राप्त कर, आपने दीक्षा स्वीकार की, यह मेरे लिए अत्यन्त ही आनन्द की बात है, परन्तु अफसोस है कि मैं आपको क्रीड़ा नहीं करा सकी।''

नेमिनाथ प्रभु देवकी को कहा-``हे देवकी ! तू खेद न कर। यह तो पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है। गत जन्म में तुमने शोक्या स्त्री के 7 रत्नों

की चोरी कर ली थी, वह जब रोने लगी तब तुमने एक रत्न वापस दे दिया था। इसी का यह फल है।'' अपने पूर्वभव को सुनकर देवकी अपने पाप का पश्चात्ताप करती हुई घर आई।

गजसुकुमाल का जन्म व दीक्षा

देवकी को उदास देखकर श्रीकृष्ण ने उसका कारण पूछा। देवकी ने कहा-``अफसोस है कि मैं सात-सात पुत्रों की जननी होने पर भी, एक भी पुत्र को क्रीड़ा न कर सकी। धन्य हैं उन पशुओं को, जो अपनी सन्तानों को प्रेम दे सकते हैं।''

श्रीकृष्ण ने कहा-``माताजी ! आप चिन्ता न करें, सब कुछ अच्छा होगा।''

श्रीकृष्ण ने हरिणैगमेषी देव की आराधना की। देव ने कहा-``देवकी को पुत्र होगा, किन्तु वह युवावस्था में ही दीक्षा स्वीकार करेगा।''

कुछ समय बाद हाथी के स्वप्न से सूचित देवकी ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम गजसुकुमाल रखा गया। यौवन वय प्राप्त होने पर द्रुमक राजा की पुत्री प्रभावती और सोमशर्मा ब्राह्मण की पुत्री सोमा के साथ उसका लग्न हो गया।

नेमिनाथ प्रभु की धर्मदेशना का श्रवण कर गजसुकुमाल ने दीक्षा स्वीकार ली और वे मुनि श्मशान भूमि में जाकर कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे।

इधर सोमशर्मा ब्राह्मण ने गजसुकुमाल मुनि को कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े देखा। उन्हें देखते ही उसको गुस्सा आ गया-``अहो ! इसने मेरी पुत्री का जीवन बर्बाद कर दिया।'' गुस्से में आकर उसने मुनि के मस्तक पर मिट्टी की पाल बनाकर, उसमें धधकते अंगारे डाल दिए। अत्यन्त समताभाव में लीन बने गजसुकुमाल मुनि को केवलज्ञान पैदा हो गया और वे सर्व से मुक्त बनकर मोक्ष में चले गए।

प्रातः काल श्रीकृष्ण, नेमिनाथ प्रभु की वन्दना के लिए चल पड़े। उन्होंने प्रभु को पूछा-``गजसुकुमाल मुनि कहाँ हैं ?''

प्रभु ने कहा, ``वे तो मोक्ष में चले गए हैं।'' ``कब-कैसे ?'' कृष्ण ने पूछा।

प्रभु ने सोमशर्मा पुरोहित के उपसर्ग की बात कही, जिसे सुनकर कृष्ण एकदम मूर्च्छित हो गए। भान में आने पर बोले, ``मुनि-हत्यारे को मैं कैसे पहिचानूंगा ?''

प्रभु ने कहा,``सोमशर्मा पर कोप करना उचित नहीं है। उसके उपसर्ग से तो गजसुकुमाल मुनि शीघ्र मोक्ष पा सके हैं...फिर भी तुम्हारे नगर-प्रवेश करते समय जो स्वतः मस्तक फटने से मर जाएगा, उसे मुनि-हत्यारा समझना।''

श्रीकृष्ण ने गजसुकुमाल मुनि का अग्नि-संस्कार किया। उसके बाद वे नगर में जाने लगे। श्रीकृष्ण को देखकर सोमशर्मा ब्राह्मण एकदम घबरा गया। मस्तक फट जाने से उसकी उसी समय मृत्यु हो गई। श्रीकृष्ण ने उसके शव को गिद्धों के पास रखवा दिया।

गजसुकुमाल का निर्वाण सुनकर वसुदेव के नौ भाइयों ने, शिवादेवी आदि अनेक स्त्रियों ने तथा श्रीकृष्ण के अनेक पुत्र-पुत्रियों ने दीक्षा स्वीकार कर ली। देवकी व रोहिणी को छोड़ वसुदेव की अन्य स्त्रियों ने भी दीक्षा स्वीकार कर आत्म कल्याण किया।

पंचम काल के वैराग्य निमित्त कदम-कदम पर मिलने पर भी जीवों को शीघ्र वैराग्य नहीं होता है, जब कि चौथे आरे में एक छोटे से निमित्त को पाकर भी आत्मा जागृत बन जाती थी।

श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा

एक बार नेमिनाथ प्रभु द्वारिका में पधारे । वर्षा ऋतु होने से नेमिनाथ प्रभु ने वहीं चातुर्मास किया ।

श्रीकृष्ण ने पूछा-``साधु भगवन्त वर्षा ऋतु में विहार क्यों नहीं करते हैं ?''

प्रभु ने कहा-``वर्षा ऋतु में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति अत्यधिक होती है । उन जीवों की रक्षा के लिए साधु भगवन्त वर्षा ऋतु में एक ही स्थान पर रहते हैं ।''

प्रभु के मुख से यह सुनकर श्रीकृष्ण ने भी चार मास दरम्यान नगर में से बाहर आवागमन नहीं करने का नियम स्वीकार किया ।

श्रीकृष्ण का संयम प्रेम

नेमिनाथ प्रभु के मुख से विरति-धर्म का माहात्म्य सुनकर उनके हृदय में संयम के प्रति तीव्र अनुराग पैदा हुआ । चारित्रमोहनीय कर्म के तीव्र उदय के कारण वे संयम को स्वीकार करने में असमर्थ थे । फिर भी उन्होंने प्रतिज्ञा की-``यदि कोई संयम-ग्रहण की इच्छा करेगा तो उसका मैं निषेध नहीं करूंगा और उसकी दीक्षा का महोत्सव भी मैं करूंगा, इतना ही नहीं उसके परिवार की जवाबदारी भी वहन करूंगा ।''

श्री कृष्ण की इस प्रतिज्ञा से हमें पता चलता है कि उनके हृदय में संयम के प्रति कितना अधिक दृढ़ अनुराग था ।

मानव-जीवन की सफलता-सार्थकता संयम-जीवन में ही है । यदि अपनी कमजोरी के कारण संयम ग्रहण करता हो, उसका निषेध तो कभी नहीं करना चाहिए ।

तीव्र संयम-राग के कारण ही श्रीकृष्ण यौवन वय को प्राप्त अपनी कन्याओं को पूछते थे-``तुझे रानी बनना है या दासी ?''

कन्या कहती-``मुझे भी बनना है ।''

कृष्ण कहते-``रानी बनना हो तो नेमिनाथ प्रभु के पास जाओ और संयम ग्रहण करो ।''

इस प्रकार प्रेरणा कर उन्होंने अनेक कन्याओं को दीक्षा दिलाई ।

एक बार माता की सलाह से केतुमञ्जरी कन्या ने कहा-``मुझे दासी बनना है ।'' उसके इस जवाब को सुनकर श्रीकृष्ण ने उसका लग्न वीर सालवी के साथ कर दिया और वीर सालवी को आदेश दिया कि इस केतुमञ्जरी से कठोर से कठोर काम करवाना ।''

बस, कुछ ही दिनों में केतुमञ्जरी कंटाल गई और श्रीकृष्ण के पास आकर बोली-``मुझे तो रानी बनना है ।''

श्रीकृष्ण ने उसे नेमिनाथ प्रभु के पास भिजवाकर दीक्षा दिलवाई ।

श्रीकृष्ण भावी तीर्थंकर

एक बार श्रीकृष्ण महाराजा ने अत्यन्त ही भावपूर्वक नेमिनाथ प्रभु के 18000 साधुओं को वन्दन किया जिससे वे अत्यन्त श्रमित हुए ।

प्रभु ने कहा-``मुनि-वन्दन से तुम्हारी भव-भ्रमण की थकावट दूर हो गई है । मुनि-वन्दन द्वारा तुमने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है, तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया है और चार नरकों को तोड डाला है । तुम आगमी चौबीसी में अमम नाम के तीर्थंकर बनकर मोक्ष में जाओगे ।''

श्री नेमिनाथ प्रभु के मुख से अपने उज्ज्वल भविष्य को सुनकर श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रमुदित हुए ।

गुरु वंदन आदि की क्रियाएं भले ही छोटी दिखती है, परंतु उसमें भाव धर्म जुड जाता है, तब उस छोटी सी क्रिया में भी अपूर्व कर्म निर्जरा की शक्ति पैदा हो जाती है । यावत् आत्मा शाश्वत पद भी प्राप्त कर लेती है ।

द्वारिका-नाश

एक बार नेमिनाथ प्रभु विहार करते हुए पुनः द्वारिका में पधारे । श्रीकृष्ण महाराजा भव्य महोत्सवपूर्वक प्रभु को वन्दन करने के लिए गए ।

प्रभु की धर्मदेशना का श्रवण कर श्रीकृष्ण महाराजा ने पूछा-``प्रभो ! इस द्वारिका का और मेरा विनाश किसी निमित्त से होगा अथवा स्वतः होगा ?''

प्रभु ने कहा-``हे कृष्ण ! शौर्यपुर नगर के बाहर द्वैपायन ऋषि हैं । मद्यपान के कारण शाम्ब आदि उन्हें हैरान करेंगे, जिसके फलस्वरूप वे मरकर देव बनकर द्वारिका का नाश करेंगे और तुम्हारी मृत्यु जराकुमार के हाथ से होगी ।''

प्रभु के मुख से यह बात जानकर वसुदेव के पुत्र जराकुमार ने सोचा-``अहो ! धिक्कार है मेरे जीवन को, अहो ! मेरे निमित्त से भाई की हत्या होगी ? मैं कैसा पापी ! मैं श्रीकृष्ण का हत्यारा तो नहीं बनूँ'' इस प्रकार विचार कर जराकुमार धनुष-बाण लेकर द्वारकानगरी का त्याग कर भयंकर जंगल में चला गया ।

प्रभु के मुख से द्वारिका-नाश की बात सुनकर बलदेवजी का सारथी सिद्धार्थ प्रभु से दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गया ।

बलदेव ने कहा-``सिद्धार्थ ! मैं तेरा त्याग करने में असमर्थ हूँ...परन्तु तू त्याग के पथ पर जा रहा है तो मैं विघ्नभूत नहीं बनना चाहता हूँ । जा, तेरा पंथ निष्कंटक बने । हाँ ! इस संयम के प्रभाव से तू मरकर देव बन जाय तो मुझे प्रतिबोध करने के लिए अवश्य आना ।''

सिद्धार्थ ने बलदेव के वचन में अपनी स्वीकृति दे दी ।

सिद्धार्थ ने प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार की और छह मास निर्मल संयम-जीवन और तप की साधना के फलस्वरुप वह मरकर देव बना ।

द्वैपायन ऋषि का निदान

प्रभु के मुख से शराब के कारण द्वारिका-नाश की बात सुनकर श्रीकृष्ण महाराजा ने अपने राज्य में मद्यपान-निषेध की घोषणा करा दी और नगर में जितना भी दारु था, उसे कदम्बवन की कादम्बरी गुफा के शिलाकुण्डों में

फिंकवा दिया ।

कादम्बरी गुफा के आसपास अत्यन्त सुगन्धित फलों के वृक्ष थे । सुगन्धित पुष्प व फल गिरने से वह मद्य अधिक स्वादिष्ट बन गई ।

एक बार गर्मी के दिनों में शाम्बकुमार का नौकर उस कुण्ड के पास आया । उसे तीव्र तृषा लगी । उसने उस कुण्ड में से थोड़ी शराब पी ली । उसे बड़ा आनन्द आया ।

एक पात्र में थोड़ी शराब भरकर उसने वह शाम्बकुमार को दी । शाम्बकुमार ने भी उसका पान किया, उसे भी बड़ा आनन्द आया । वह दूसरे दिन यादव कुमारों को लेकर कादम्बरी गुफा में पहुँच गया और वहाँ सभी यादवों ने भरपेट मदिरापान किया ।

मद्यपान के नशे में इधर-उधर भटकते हुए उन्होंने द्वैपायन ऋषि को देखा ।

उस ऋषि को देखकर शाम्ब बोला, ``अरे ! यह ऋषि तो हमारे कुल का विध्वंसक है, अतः इसे मार डालो ।''

शाम्बकुमार की बात सुनते ही सभी कुमार उस ऋषि को पत्थरों, लकड़ियों व मुष्टियों से मारने लगे ।

कुमारों के प्रहार से वह ऋषि जमीन पर ढल पड़ा । उसे मृतप्रायः जानकर सभी यादवकुमार द्वारिका में आ गए ।

श्रीकृष्ण को ज्योंही इस बात का पता चला, वे बलदेव को साथ लेकर द्वैपायन ऋषि के पास आए और ऋषि को शान्त करने के लिए मधुर वचन कहने लगे-``हे महर्षे ! क्रोध तो आत्मा का भयंकर शत्रु है, वह एक जन्म में नहीं, किन्तु लाखों जन्म तक आत्मा को दुःख पहुँचाता है, अतः मद्यपान से अन्धे बने हमारे पुत्रों ने जो कुछ भी अपराध किया है, उसे आप क्षमा करें, क्योंकि आपके जैसे महर्षियों के लिए कोप करना उचित नहीं है ।''

श्रीकृष्ण के समझाने पर भी द्वैपायन ऋषि शान्त नहीं हुए । वे बोला, ``हे कृष्ण ! ये बातें अब रहने दो, तुम्हारे पुत्रों ने मुझे जो भयंकर मार लगाई, उस समय मैंने समस्त लोकों के साथ द्वारिका का विनाश करने का निपाणा किया है, अतः अब तुम दोनों को छोड़कर अन्य किसी का छुटकारा नहीं हो सकेगा ।''

बलदेव के आग्रह से श्रीकृष्ण पुनः महल में आ गए ।

श्रीकृष्ण ने द्वारिका में आकर समस्त प्रजाजनों को द्वैपायन ऋषि के निदान की बात कह दी और साथ में कहा-``हे प्रजाजनों ! तुम सब लोग धर्म-कर्म में अधिक तत्पर बन जाओ । धर्म की प्रचण्ड शक्ति है ।'' श्रीकृष्ण महाराजा के वचन सुनकर सभी प्रजाजन धर्म-कार्य में अधिक तत्पर बन गए ।

शाम्ब आदि की दीक्षा

कुछ समय बाद नेमिनाथ प्रभु पुनः द्वारिका पधारे । प्रभु की वैराग्यमय धर्मदेशना का श्रवण कर शाम्ब, प्रद्युम्न, उल्मुक, सारण आदि अनेक यादवकुमारों ने तथा जाम्बवती, रुक्मिणी आदि अनेक यादव-स्त्रियों ने प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार ली ।

अन्त में श्रीकृष्ण ने पूछा-``प्रभो ! द्वारिका का नाश कब होगा ?''

प्रभु ने कहा-``आज से बारह वर्ष के बाद द्वैपायन द्वारिका का नाश करेगा ।''

श्रीकृष्ण सोचने लगे-``धन्य है समुद्रविजय आदि बन्धुओं को, जिन्होंने पहले ही दीक्षा स्वीकार कर ली, मैं मन्दभागी हूँ कि दीक्षा नहीं ले सका ।''

द्वैपायन ऋषि निदान करके मरकर भवनपति निकाय में वह्निकुमार देव बना । द्वारिका के प्रजाजन भी आयंबिल उपवास-छट्ठ-अट्ठम आदि विविध प्रकार के तप करने लगे । लोगों के तप धर्म के प्रभाव से द्वैपायन देव द्वारिका-नाश का इच्छुक होने पर भी द्वारिका का नाश न कर सका । इस प्रकार बारह वर्ष बीत गए ।

लोगों ने सोचा-``तप आदि के प्रभाव से पापात्मा द्वैपायन ऋषि का प्रभाव नष्ट हो चुका है, अतः अब किसी प्रकार का भय रखने की आवश्यकता नहीं है ।'' सभी यादवों ने धर्मप्रवृत्ति के प्रति उपेक्षा कर दी और इच्छापूर्वक मद्यपान आदि करने लगे ।

भवितव्यता बलवान होती है । विनाशकाल निकट आने पर यादव लोग स्वतः धर्मप्रवृत्ति से निवृत्त हो गए ।

बस, द्वैपायन ऋषि देव को अवसर हाथ लग गया और उसने समस्त द्वारिका में आग लगा दी ।

चारों ओर आकाश में उल्कापात होने लगा । पृथ्वी काँपने लगी । चारों ओर धुआँ फैलने लगा । अकाल समय में सूर्य और चन्द्र के ग्रहण होने लगे । भयंकर संवर्त वायु के प्रकोप से बड़े-बड़े वृक्ष भी नीचे गिरने लगे, ऐसा लग रहा था मानों, सम्पूर्ण द्वारिका एक चिता बन गई हो । आग की लपटें आकाश को छूने लगीं । भय के मारे लोग इधर-उधर भागने लगे, फिर भी आग की लपटों से कोई बच न सका ।

बालक, वृद्ध और स्त्रियों के करुण रुदन से समस्त वातावरण शोकातुर बन गया । राम और कृष्ण के हल-मुशल चक्र आदि शस्त्र भी नष्ट हो गए ।

इसी बीच बलदेव और कृष्ण ने वसुदेव, देवकी और रोहिणी को बचाने के लिए रथ में बिठा दिया और नगर के द्वार की ओर आगे बढ़ने लगे । कुछ दूर चलने के बाद अश्व स्तम्भित हो गए । अश्वों को दूर कर श्रीकृष्ण और बलदेव स्वयं रथ को खींचने लगे । भवितव्यतावश उसी समय रथ की धुरी भी तड-तड आवाज करी हुई टूट गई ।

दीनता से रुदन करते हुए वसुदेव आदि के रथ को श्रीकृष्ण द्वार तक ले आए । इसी बीच दरवाजे बन्द हो गए । बलदेव ने अपने पाद-प्रहार से उन दरवाजों को तोड़ दिया, फिर भी रथ आगे नहीं बढ़ सका ।

तभी द्वैपायन देव ने आकर कहा, ``हे कृष्ण ! तुम व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हो । तुम दोनों के सिवाय इस आग से कोई भी बचने वाला नहीं है ।''

यह सुनकर वसुदेव-देवकी ने कहा-``हे पुत्रों ! तुम अपना प्रयत्न छोड़ दो । भवितव्यता बलवान और दुर्लंघ्य है । हम अभागे हैं कि हमने प्रभु के पास दीक्षा नहीं ली ।''

अपना मरण निकट जानकर वसुदेव-देवकी व रोहिणी ने नेमिनाथ प्रभु की शरणागति स्वीकार की । पंचपरमेष्ठी भगवन्तों का स्मरण किया । उसी समय द्वैपायन देव ने उन पर अग्नि की वर्षा की । वे तीनों शुभध्यान में समाधिपूर्वक मरकर देव बने ।

बलदेव और श्रीकृष्ण नगर के बाहर आकर जीर्ण उद्यान में खड़े होकर द्वारिका के विनाश को अपनी आँखों से देखने लगे । द्वारिका नगरी के

राजमहल, माणेक के स्तम्भ, चन्दन के स्तम्भ आदि धू-धू कर जल रहे थे। समस्त नगरी अग्निमय बन गयी थी।

श्रीकृष्ण की मृत्यु

अपनी आँखों से द्वारिका का विनाश देखकर श्रीकृष्ण ने बलदेव से कहा-``अहो ! नगरजनों की यह दारुण दशा मुझसे देखी नहीं जा रही है। हे बन्धु ! इतना सामर्थ्य होने पर भी मैं अपने माता-पिता तक को न बचा सका। प्रजाजनों का रक्षण न कर सका, अब मैं कहाँ जाऊँ ?''

बलदेव ने कहा-``भाई ! हताश मत बनो। यह तो सब संसार का नाटक है। नेमिनाथ प्रभु ने जो कुछ कहा था, वह सब सत्य सिद्ध हुआ है। भवितव्यता ऐसी ही है, अतः उसे कोई बदल नहीं सकता।

`हे बन्धु ! अपने कुटुम्बीजन तो पाण्डव ही हैं। अब वहाँ चलें।''

श्रीकृष्ण ने कहा-``मैंने तो पहले ही उन्हें देशनिकाल की सजा कर दी है, अतः हम वहाँ कैसे जायें ?''

बलदेव ने कहा, ``वे पाण्डव दयालु हैं, वे कभी अपने अपकार को याद नहीं करेंगे।''

इस प्रकार बलदेव के कहने पर श्रीकृष्ण और बलदेवजी नैऋत्य दिशा की ओर पांडुमथुरा जाने के लिए आगे बढ़े।

मार्ग में आगे बढ़ते हुए वे दोनों हस्तिकल्प नाम के नगर के पास पहुँचे। उस समय उन्हें अत्यन्त भूख लगी।

बलदेव ने कहा-``मैं भोजन के लिए नगर में जाता हूँ, यदि कोई संकट आ गया तो तुम्हें बुलाने के लिए सिंहनाद करूंगा।'' इस प्रकार कहकर बलदेवजी नगर में चले गए।

नगरजनों ने बलदेवजी को पहचान लिया। उन्होंने थोड़ी सी मिठाई खरीदी और वे द्वार की ओर आगे बढ़े। उस नगर में धृतराष्ट्र का पुत्र अच्छदन्त राज्य करता था। द्वाररक्षक ने आकर राजा को, बलदेव के आगमन की बात कही। इसी बीच अच्छदन्त बलदेव को मारने के लिए सेना सहित आ गया। उसने नगर के द्वार बन्द कर दिए। बलदेवजी ने सिंहनाद किया और स्वयं शत्रु की सेना का प्रतिकार करने लगे।

सिंहनाद सुनकर श्रीकृष्ण वहाँ आ गए। उन्होंने अपने पाद-प्रहार से नगर के द्वार को तोड़ दिया और भीतर प्रवेश किया।

कृष्ण ने अपने पराक्रम से अच्छदन्त के सैनिकों को मार भगाया और अच्छदन्त को कहा-``अरे मूर्ख ! अभी तक तू हमारे पराक्रम को पहिचान नहीं पाया है ? खैर । तू अपना राज्य कर, तेरे इस अपराध को माफ कर देता हूँ ।'' इस प्रकार कहकर कृष्ण और बलदेव ने नगर के बाहर स्थित उद्यान में आकर भोजन किया ।

तत्पश्चात् वे दक्षिण दिशा की ओर आगे बढ़ते हुए कौशाम्बी नगरी के वन में आए ।

उस समय श्रीकृष्ण को अत्यन्त प्यास लगी थी । वे बोले-``बन्धु ! मेरा गला सूख रहा है । मैं इस वृक्ष की छाया में बैठता हूँ । मैं आगे चलने में असमर्थ हूँ ।'' इतना कहकर श्रीकृष्ण वृक्ष के नीचे बैठ गए और बलभद्र पानी लाने के लिए निकल पड़े ।

श्रीकृष्ण एक जानु पर दूसरा पैर चढ़ाकर सो गए । वे पीत वस्त्र ओढ़े हुए थे । क्षण भर में उन्हें निद्रा आ गई ।

इसी बीच हाथ में धनुष-बाण धारण करने वाला, चर्मवस्त्रधारी जराकुमार उस वन में आया । वह शिकार के लिए भ्रमण कर रहा था । दूर से सोए हुए श्रीकृष्ण को मृग समझकर उसने तीक्ष्ण बाए छोड़ा ।

वह बाण श्रीकृष्ण के पैर में लगा । बाण लगते ही श्रीकृष्ण बैठे हो गए और बोले, ``अरे ! इस प्रकार छल-कपट करके निद्राधीन मुझ पर किसने बाण छोड़ा है ? आज तक किसी ने मेरी आज्ञा का लोप नहीं किया है । वह सच्चा क्षत्रिय हो तो अपना नाम और गोत्र बताए, क्योंकि नाम व गोत्र को जाने बिना मैंने किसी दुश्मन को मारा नहीं है ।''

उसी समय दूर से जराकुमार बोला-``मैं वसुदेव और जरा रानी का पुत्र जराकुमार यादव क्षत्रिय हूँ । बलदेव और श्रीकृष्ण मेरे बड़े भाई हैं । वे तो गुणों की खान हैं । नेमिनाथ प्रभु के मुख से मेरे हाथों से श्रीकृष्ण की हत्या जानकर मैं भूखा और प्यासा जंगल में भटक रहा हूँ, इस प्रकार जंगल में भटकते हुए बारह वर्ष बीत चुके हैं । फिर भी आज तक मैंने इस वन में किसी मनुष्य को नहीं देखा है । शुभ्रवेष को धारण करने वाले आप कौन हैं ?''

श्रीकृष्ण ने कहा-``भाई ! तू निकट आ । मैं वही श्रीकृष्ण हूँ । मुझे बचाने का तेरा यह प्रयत्न निष्फल गया है । सच है, भवितव्यता को कोई बदल नहीं सकता । जिनवचन कभी मिथ्या नहीं होते हैं ।''

वृक्ष के नीचे बैठे हुए व्यक्ति को श्रीकृष्ण समझकर जराकुमार एकदम निकट आ गया और उसी समय अपने भाई को बाण से बिंधा देखकर उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे ।

उसने कहा-``हे बन्धुवर ! आप इस जंगल में कैसे आए ?''

श्रीकृष्ण ने द्वारिका-दाह का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ।

द्वारिका-विनाश को सुनकर एकदम रुदन करता हुआ जराकुमार बोला-``हे श्रीकृष्ण ! मुझे धिक्कार है । मैंने एकदम अयोग्य कार्य किया है । अरे ! प्रभु के वचनों को सुनकर मेरा हृदय फट क्यों नहीं गया ? मैं अभी तक जीवित रहा ? मेरा जीवन ही मेरे भाई की मृत्यु में कारण बना ? हे पृथ्वी ! मुझे स्थान दे । मैं तेरे में समा जाऊँ । अब नरक के सिवाय मेरे लिए कोई स्थान नहीं है ।''

श्रीकृष्ण ने कहा-``भाई ! तू शोक मत कर, क्योंकि भवितव्यता का उल्लंघन किसी से सम्भव नहीं है । यादवों में मात्र तुम एक ही बचे हो । तुम चिरकाल तक जीओ । तुम यहाँ से शीघ्र चले जाओ, अन्यथा बलदेव आकर तुम्हें मार डालेंगे । तुम मेरा यह कौस्तुभमणि ले जाओ और पाण्डवों के पास चले जाओ । उन्हें मेरा वृत्तान्त कह देना । वे तुम्हारी अवश्य सहायता करेंगे । तुम यहाँ से उल्टे पैर चले जाओ, ताकि बलदेव तुन्हें पकड़ न सकें । मैं पाण्डवों से क्षमा-याचना करता हूँ, उन्हें मेरा `मिच्छा मि दुक्कडं कहना ।''

इस प्रकार श्री कृष्ण के कहने पर जराकुमार ने कृष्ण के पैर से बाण खींच लिया और कौस्तुभमणि लेकर वह चला गया ।

जराकुमार के जाने के बाद श्रीकृष्ण की पीड़ा बढ़ने लगी । अपनी मृत्यु को नजदीक जानकर वे अन्तिम आराधना में तल्लीन बन गए ।

वे अपने दुष्कृतों की गर्हा करने लगे, सुकृतों की अनुमोदना और अरिहन्तादि की शरणागति का स्वीकार करने लगे ।

इस प्रकार शुभ भावना से भावित बने श्रीकृष्ण के अंग टूटने लगे । अन्तिम समय में उन्हें द्वारिका-विनाशक द्वैपायन ऋषि के प्रति कोप आ गया ।

कुछ ही समय बाद उनकी आत्मा ने भौतिक देह का त्याग कर दिया और उनकी आत्मा तीसरी नरक में प्रयाण कर गई । उनका देह वहीं पड़ा रहा ।

बलदेव की राग-दशा

थोड़ी देर बाद बलदेव पानी लेकर आए । उन्होंने देखा-भाई को थोड़ी निद्रा आ गई है । वे पास में बैठे रहे । सुबह होने पर भी जब कृष्ण के देह में हलन-चलन दिखाई न दी, तब वे उसे जगाने का प्रयत्न करने लगे । ``भाई ! अब उठ जाओ । दिन उग चुका है । हमें आगे दूर जाना है, धूप निकल चुकी है ।'' परन्तु उन्हें कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला ।

बलदेव ने कृष्ण के वस्त्र को दूर हटाया और उसी समय उनके निश्चेष्ट शरीर को देखा । पैर में बाण के घाव को देखकर उन्होंने रोष में आकर जोर से सिंहनाद किया, जिसे सुनकर सभी पशु-पक्षी चारों दिशाओं में इधर-उधर भागने लगे ।

वे बोले-``किसने मेरे भाई पर बाण का प्रहार किया है ? यदि भुजाबल हो तो वह मेरे सामने आ जाय ।'' इस प्रकार बोलते बोलते बलदेवजी स्वयं बेहोश हो गए । थोड़ी ही देर बाद होश में आने पर पुनः करुण-स्वर से विलाप करने लगे और बोले, ``बन्धु ! तू तो गुणीजनों में अग्रणी है, मैं तो अधम हूँ । तू मुझे जवाब तो दे ।''

इस प्रकार कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलने से बलदेवजी ने श्रीकृष्ण की देह को अपने कन्धों पर उठा लिया और नदी-पर्वत व जंगल में घूमने लगे । इस प्रकार छह मास तक वे श्रीकृष्ण के शव को लेकर फिरते ही रहे ।

सिद्धार्थ द्वारा प्रतिबोध

सिद्धार्थदेव ने अपने अवधिज्ञान से बलदेवजी की मोहदशा को जाना । बलदेव को प्रतिबोध देने के लिए सिद्धार्थदेव ने उपाय चालू किए । बलदेवजी पर्वत से नीचे उतर रहे थे, तभी उन्होंने टूटे हुए पत्थर के रथ को जोड़ रहे मनुष्य को देखा ।

बलदेव बोले-``क्या पत्थर का रथ कभी जुड़ता है ?''

उसने कहा-``मरा हुआ आपका भाई पुनः जीवित हो सकता है तो यह रथ क्यों नहीं जुड़ेगा ?''

बलदेव ने कह दिया-``ऐसा मत बोलो, मेरा भाई तो जीवित है ।''

कुछ समय बाद बलदेव ने देखा-एक मनुष्य पत्थर पर कमल उगा रहा है ।

बलदेव ने कहा-``मूर्ख ! क्या पत्थर पर कमल उगते हैं ?''

उसने कहा-``आपका मरा हुआ भाई जीवित हो सकता है तो पत्थर पर कमल क्यों नहीं उगेगा ?''

बलदेव ने कहा-``ऐसा मत कहो, मेरा भाई कहाँ मरा हुआ है ?''

कुछ समय बाद बलदेव ने देखा, एक भाई जले हुए वृक्ष का सिंचन कर रहा है ।

बलदेव के पूछने पर वह बोला, ``आपका मरा हुआ भाई जिन्दा हो सकता है, तो यह वृक्ष पल्लवित क्यों नहीं होगा ?''

फिर भी बलदेव प्रतिबुद्ध नहीं हुए ।

अन्त में बलदेव ने देखा-एक व्यक्ति मरी हुई गाय को घास खिला रहा है ।

उसको पूछने पर उसने भी यही कहा कि ``आपका मृत बन्धु जिन्दा हो सकता है तो यह मरी हुई गाय घास क्यों नहीं खा सकती ।''

बार बार इस प्रकार की घटनाओं को देखने से बलदेव का मोह दूर होने लगा । उसी समय सिद्धार्थदेव ने प्रगट होकर कहा-``मोह के पटल को दूर हटाओ और आत्म-साधना के लिए जागरूक बनो ।''

सिद्धार्थदेव ने जराकुमार के हाथों से हुई कृष्ण की मृत्यु की घटना सुना दी । बलदेवजी का मोह दूर हो गया और उन्होंने श्रीकृष्ण की देह का अग्नि-संस्कार कर दिया ।

तत्पश्चात् बलदेव ने नेमिनाथ प्रभु के द्वारा भेजे हुए चारणमुनि के पास दीक्षा स्वीकार कर ली ।

भीष्म अभिग्रह

गुरुकुलवास में रहकर शास्त्रपारगामी बनकर बलदेव मुनि एकाकी प्रतिमायोग के लिए पर्वत आदि के शिखर पर जाकर तपः साधना करने लगे ।

एक बार बलदेव मुनि मासक्षमण के पारणे पर्वत पर से नीचे उतर

कर नगर में प्रवेश कर रहे थे । नगर के द्वार के बाहर कोई स्त्री अपने बच्चे को लेकर कुएं से पानी भर रही थी । अचानक उसकी नजर बलदेव मुनि पर पड़ी । बलदेव मुनि के अद्‌भूत रूप को देखकर वह कामातुर बन गई । भूल से उसने बाल्टी के बजाय बालक के गले में ही डोरी बाँध दी ।

बलदेव मुनि ने यह दृश्य अपनी आँखों से देखा । तत्काल उन्होंने सोचा, ``धिक्कार है मेरे रूप को । मेरे रूप को देख अनेक का पतन हो जाएगा । अतः मैं गोचरी के लिए नगर में नहीं जाऊंगा । वन में ही निर्दोष भिक्षा मिल गई तो उसी से पारणा करूंगा ।''

बलदेव मुनि की मृत्यु

बलदेव मुनि वन में ही रहकर त्याग-तप की साधना करने लगे । उनकी अहिंसा की साधना से जंगल के पशु भी उनके मित्र बन गए और उनकी धर्मदेशना का पान करने लगे ।

एक बार एक स्थकार जंगल में लकड़ियाँ काटने के लिए आया था । मध्याह्न समय में एक बार बलदेव मुनि को वह स्थकार अत्यन्त भावपूर्वक दान देने लगा । उस समय पास में खड़ा मृग सोचने लगा-``धन्य है तपस्वी मुनि को, जो इस प्रकार तप की साधना करते हैं, धन्य है स्थकार को, जो ऐसे तपस्वी मुनि को दान देता है । अरे ! मैं तो दुर्भागी हूँ, न तो तप कर सकता हूँ और न ही दान दे सकता हूँ ।''

उसी समय पवन के तुफान से वृक्ष की एक डाल गिर जाने से मुनि, स्थकार व मृग तीनों की मृत्यु हो गई । वे तीनों मरकर ब्रह्म देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुए ।

पाण्डवों की दीक्षा

जराकुमार ने जाकर पाण्डवों को श्रीकृष्ण की मृत्यु व द्वारिका-नाश के समाचार सुनाए । समाचार सुनते ही पाण्डव मूर्च्छित हो गए । वे एक वर्ष तक शोकातुर रहे ।

तत्पश्चात् उनकी योग्यता जानकर नेमिनाथ प्रभु ने धर्मघोष मुनि को पाँच सौ मुनियों के साथ पाण्डुमथुरा भेजा । धर्मघोष मुनि की धर्मदेशना

सुनकर सभी पाण्डव दीक्षा के लिए तैयार हो गए । जिनमन्दिर में भव्याति-भव्य अष्टाह्निक महोत्सव का आयोजन कर द्रौपदी सहित सभी पाण्डवों ने दीक्षा ग्रहण की । पाण्डु और कुन्ती तो प्रभु के पास पहले ही दीक्षा ले चुके थे ।

पाँचों पाण्डव मुनि विशुद्ध संयम का पालन करने लगे । धीरे-धीरे सभी पाण्डव मुनि द्वादशांगी के ज्ञाता बन गए ।

धर्मघोष मुनि की आज्ञा स्वीकार कर पाण्डव मुनि अलग विहार करने लगे ।

एक बार भीम मुनि ने अभिग्रह किया-``भाले के अग्र भाग से मुझे कोई भिक्षा दे तो मैं उसे ग्रहण करूंगा ।'' उनका यह अभिग्रह छह मास बाद पूर्ण हुआ ।

विहार करते हुए पाण्डव मुनि पुनः अपने गुरुदेव के साथ हो गए ।

उन्होंने पूछा-``नेमिनाथ प्रभु कहाँ हैं ?''

गुरुदेव ने कहा-``प्रभु अपने निर्वाण-काल को निकट जानकर गिरनार पर्वत पर पधारे हैं ।''

प्रभु के दर्शन के लिए पाण्डव मुनियों ने भी गिरनार की ओर विहार किया । मासक्षमण के पारणे वे हस्तिकल्प नगर में पहुँचे । वहाँ से गिरनार बारह योजन दूर था । अतः उन्होंने अभिग्रह किया, `कल प्रभु को वन्दन कर पारणा करेंगे ।'

इधर उसी रात्रि में नेमिनाथ प्रभु का निर्वाण हो गया ।

चारण मुनि के मुख से प्रभु के निर्वाण को सुनकर पाण्डव मुनियों को अत्यन्त ही आघात लगा । ``अरे ! हम बलदेव मुनि और प्रभु के दर्शन से वंचित हो गए । हम हीनभागी है किं हमारा अभिग्रह पूर्ण नहीं हुआ ।''

सभी पाण्डव मुनि गुर्वाज्ञ से विमलाचल पर्वत की ओर आगे बढ़े और वहाँ जाकर सभी ने अनशन स्वीकार लिया । कुछ समय बाद घातिकर्मों का क्षय हो जाने से सभी पाण्डवों को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और अन्त में अपने आयुष्य को समाप्त कर वे मोक्ष में चले गए । महासती द्रौपदी भी विशुद्ध संयम का पालन कर पाँचवें देवलोक में उत्पन्न हुई । वहाँ से च्यव कर महाविदेहक्षेत्र में मनुष्य जन्म प्राप्त कर संयम की आराधना कर शाश्वत पद प्राप्त करेगी ।

नेमिनाथ प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार कर प्रद्युम्न मुनि ने द्वादशांगी का अध्ययन किया । इसके साथ ही वे उग्रतप और ध्यान करने लगे ।

द्वारिका दाह कृष्ण-मृत्यु आदि बातों को जानकर प्रद्युम्न मुनि अति घोर तप करने लगे ।

प्रद्युम्न मुनि ने अट्ठम द्वारा वीश स्थानक तप किया । उसके बाद उन्होंने लघु सिंह निष्क्रीडित तप किया । उसके बाद महासिंह निष्क्रीड़ित, तप, व्रत पद्मोत्तर, महाभद्र सर्वतोभद्र, एकावली, मुक्तावली, रत्नावली, सर्वांग सुंदर भद्र, सुधर्म चक्रवालक तप भी किया ।

वे क्षुधा, तृषा आदि 22 परिषहों को समतापूर्वक सहन करने लगे ।

वे आधाकर्मी आदि दोषों से रहित आहार लेते थे, वह आहार भी शरीर के पोषण के लिए नहीं, बल्कि शरीर टिकाने के लिए ही लेते थे ।

वे अनित्य, अशरण, संसार आदि भावनाओं से निरंतर अपनी आत्मा को भावित करते रहते थे ।

भयंकर पापाचरण करने वाली अनेक आत्माएँ भी इस महान् शत्रुंजय तीर्थ का, अवलंबन लेकर मोक्ष में गई है । निकट मुक्तिगामी आत्माएँ ही इस तीर्थ की स्पर्शना आदि का लाभ ले पाती है ।

इस तीर्थ के नाम स्मरण, जाप, ध्यान से भी अनंत पाप राशि का नाश होता है ।

इस गिरिराज के 108 शिखर हैं, उसमें 21 मुख्य है । शांब और प्रद्युम्न मुनि अपने विशाल परिवार के साथ इस शत्रुंजय महातीर्थ पर पधारे ।

भांडवे के डुंगर के नाम से प्रख्यात पांचवें शिखर पर जाकर शांब और प्रद्युम्न आदि साढे आठ करोड मुनियों के साथ अनशन व्रत का स्वीकार किया...और फागुण सुदी 13 के शुभ दिन उन सभी के सभी घातिकर्म नष्ट हो गए...और उसके साथ ही लोकालोक प्रकाशक ऐसे केवलज्ञान को प्राप्त किया...तत्पश्चात् अन्तर्मुहुर्त के बाद ही शेष चार अघाति कर्मों का क्षय हो जाने से तत्क्षण वे शाश्वत अजरामर मोक्ष पद के भोक्ता बन गए ।

शांब और प्रद्युम्न मुनि आदि की याद में आज भी हजारों नर-नारी शत्रुंजय महातीर्थ की छ गाउ की यात्रा करते है ।

निर्वाण कल्याणक

अपने पवित्र चरण कमलों द्वारा पृथ्वीतल को पावन करते हुए एवं अपनी धर्मदेशना द्वारा अनेक भव्य जीवों को धर्मबोध देते हुए नेमिनाथ प्रभु गिरनार तीर्थ पर पधारे । वहां पर देवताओं द्वारा विरचित समवसरण में बैठकर प्रभु ने अंतिम धर्म देशना दी । उस देशना का श्रवण कर अनेक पुण्यात्माओं ने चारित्र धर्म स्वीकार किया । अनेकों ने देशविरति धर्म स्वीकार किया ।

उसके बाद ५३६ मुनियों के साथ प्रभु ने पादपोपगमन नाम का अनशन व्रत स्वीकार किया । असाढ सुदी अष्टमी के दिन चित्रा नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर समस्त अघाति कर्मों का क्षयकर प्रभु ने निर्वाणपद प्राप्त किया । प्रभु जन्म जरा और मरण के बंधन से सदा के लिए मुक्त हो गए ।

प्रभु के निर्वाण प्रसंग पर सभी इन्द्र उपस्थित हुए इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने एक शिबिका की रचना की । इन्द्र ने प्रभु के देह का अभिषेक किया । उसके बाद मूल्यवान् वस्त्रों से प्रभु के देह को अलंकृत किया ।

देवताओं ने रत्नशिला पर गोशीर्ष चंदन के काष्ठ की चिता की रचना की । प्रभु के देह को चिता पर स्थापित कर अग्निकुमार देव ने अग्नि प्रज्वलित की । देह के जल जाने पर देवताओं ने क्षीर समुद्र के जल से चिता को शांत की ।

उसके बाद शक्र व ईशान आदि इन्द्रों ने प्रभु की दाढाओं को ग्रहण की । अन्य देवताओं ने प्रभु की अस्थि आदि ग्रहण की । देवियों ने पुष्प लिये तथा अन्य लोगों ने भस्म ग्रहण की ।

प्रभु के अग्नि संस्कारवाली वैडूर्यमणि की शिला पर इन्द्र ने अपने वज्र से प्रभु के नाम और लक्षण का आलेखन किया उसके बाद उस शिला पर नेमिनाथ प्रभु की प्रतिमा सहित चैत्य का निर्माण किया । उसके बाद इन्द्र आदि देवता अपने अपने स्वर्ग में चले गए ।

नेमिनाथ प्रभु का संक्षिप्त परिचय

१.	माता का नाम	:	शिवादेवी
२.	पिता का नाम	:	समुद्रविजय
३.	लांछन	:	शंख
४.	जन्म स्थल	:	शौरीपूरी
५.	शरीर की ऊंचाई	:	१० धनुष
६.	शरीर का वर्ण	:	श्याम
७.	च्यवन कल्याणक	:	कार्तिक वदी १२
८.	जन्म	:	श्रावण सुदी ५
९.	दीक्षा	:	श्रावण सुदी ६
१०.	केवलज्ञान	:	आसो वदी अमावस्या
११.	निर्वाण	:	श्रावण सुदी ८
१२.	दीक्षा स्थल	:	सहसाम्रवन
१३.	सह दीक्षा	:	१०००
१४.	दीक्षा समय शिबिका	:	उत्तरकुरु
१५.	दीक्षा समय तप	:	छट्ठ
१६.	छद्मस्थ काल	:	५४ दिन
१७.	गृहस्थ पदवी	:	राजकुमार
१८.	लग्न जीवन	:	नहीं (बाल ब्रह्मचारी)
१९.	कुमार अवस्था	:	३०० वर्ष
२०.	जन्म का पूर्व भव	:	अपराजित विमान
२१.	भव संख्या	:	९
२२.	आयुष्य	:	१००० वर्ष
२३.	केवलज्ञान वृक्ष	:	वेतस
२४.	गणधर संख्या	:	११

२५. साधु संख्या	:	१८०००
२६. साध्वी संख्या	:	४००००
२७. श्रावक संख्या	:	१,६९,०००
२८. श्राविका संख्या	:	३,३९,०००
२९. निर्वाण भूमि	:	रैवतगिरि
३०. सह निर्वाण	:	५३६ मुनि
३१. प्रथम गणधर	:	वरदत्त
३२. जन्म नक्षत्र	:	चित्रा
३३. जन्म राशि	:	तुला
३४. यक्ष का नाम	:	गोमेध
३५. यक्षिणी का नाम	:	अंबिका
३६. चौदह पूर्वधर	:	४००
३७. अवधिज्ञानी	:	१५००
३८. वैक्रिय लब्धिधारी	:	१५००
३९. केवलज्ञानी साधु	:	१५००
४०. मनः पर्यवज्ञानी	:	१०००
४१. वादलब्धि धारी	:	८००
४२. निर्वाण तप	:	मासक्षमण
४३. निर्वाण अनशन	:	पादपोपगम अनशन.

2
महामंत्रीश्वर-पेथड़शाह

(विक्रम की 13 वीं-14 वीं सदी में जैन शासन की अद्‌भुत प्रभावना करनेवाले महामंत्रियों में पेथड़शाह महामंत्री का प्रमुख स्थान है ।

उन्होंने अपने जीवन में सुकृत की परंपरा का जो सर्जन किया, वह सचमुच में खूब-खूब अनुमोदनीय है ।

पूज्य आचार्य श्री सोमसुंदरसूरीश्वरजी म.सा. के पट्टधर पू.आ. श्री रत्नशेखरसूरिजी म.सा. के शिष्य पंडित शिरोमणि श्री नंदिरत्न गणि के शिष्य श्री रत्नमंडन गणि ने महामंत्री पेथड़शाह के जीवन पर 'सुकृत सागर' ग्रंथ की रचना की है, जिसमें उन्होंने महामंत्री के पिताश्री देदाशाह एवं उनके सुपुत्र झांझणशाह के जीवन-प्रसंगों को भी साथ में गूंथ लिया है ।)

परिग्रहपरिमाण व्रत

देदाशाह के पिताश्री के पास अखूट संपत्ति थी, परंतु भाग्य ने पलटा खाया और देदाशाह के गृहांगण से लक्ष्मीदेवी ने विदाई ली, स्थिति बहुत ही खराब हो गई ।

एक दिन देदाशाह अपने भाग्य को अजमाने के लिए घर छोड़कर जंगल की ओर चल पड़े ।

सद्‌भाग्य से जंगल में किसी पर्णकुटीर में देदाशाह को किसी योगी-संन्यासी के दर्शन हुए । उन्होंने तीन दिन तक योगी संन्यासी की खूब सेवा की । तीन दिन के बाद प्रसन्न हुए योगी संन्यासी नागार्जुन ने देदाशाह को सुवर्ण-सिद्धि का प्रयोग बतलाया ।

तीन दिन से भूखे देदाशाह की क्षुधातृप्ति के लिए नागार्जुन ने अपने मंत्रप्रयोग द्वारा नांदुरी नगरी के नागश्रेष्ठी के घर से गोत्रदेवी को धरा हुआ भोजन का थाल मँगा दिया ।

नागार्जुन ने देदाशाह को रुंदंडी आदि अनेक औषधियों का परिचय कराया ।

नागार्जुन के निर्देशानुसार देदाशाह ने औषधियों का रस निकाला और वह रस लोहे पर लगाया । फिर उस लोहे को अग्निकुंड में तपाया गया और कुछ ही क्षणों में वह लोहा सोना बन गया ।

देदाशाह के आनंद का पार न रहा ।

सुवर्ण सिद्धि के प्रयोग को प्राप्तकर देदाशाह अपने घर आए । उनके हृदय में आनंद समा नहीं रहा था ।

देदाशाह ने नागार्जुन के निर्देशानुसार सुवर्णसिद्धि का प्रयोग कर काफी सोना तैयार किया । धनप्राप्ति के बाद देदाशाह ने सर्वप्रथम अपने सिर पर जो भी कर्जा था, वह कर्जा चुकाकर शांति का श्वास लिया ।

देदाशाह की बढ़ती हुई समृद्धि को देखकर कुछ ईर्ष्यालु वर्ग भीतर-ही-भीतर जलने लगा ।

एक दिन किसी ने जाकर महाराजा के कान फूंके कि ``देदाशाह को अपने घर में किसी निधान की प्राप्ति हुई है, इसके बिना उसकी स्थिति में इतना परिवर्तन कैसे हो सकता है ?''

राजा ने अपने अधिकारी व्यक्ति को देदाशाह के घर भेजकर उसे राजदरबार में उपस्थित होने की आज्ञा की ।

राजा की आज्ञा मिलते ही देदाशाह राजदरबार में उपस्थित हो गए ।

राजा ने थोड़ा दबाव लाकर देदाशाह को पूछा, ``क्या तुम्हारे घर में निधान निकला है ?''

देदाशाह ने कहा, ``नहीं महाराजा !''

खूब आग्रह करके पूछने पर भी जब देदाशाह का एक ही जवाब रहा तो राजा ने उसे कैदखाने में कैद कर दिया ।

देदाशाह के जीवन में पुनः आपत्ति के बादल आ खड़े हुए ।

देदाशाह के हाथ-पाँव में लोहे की जंजीरें थीं । जेल के द्वार पर मोटा ताला लगा हुआ था और द्वार पर द्वारपाल भी तैनात था ।

प्रभुभक्त देदाशाह ने स्तंभन पार्श्वप्रभु का हृदय से स्मरण किया ।

``प्रभो ! तू ही मेरा आधार है ! अभयदेवसूरिजी म. के कोढ़ रोग को आपने ही दूर किया था । प्रभो ! मैंने आपकी शरण स्वीकार की है,

आप ही मेरा रक्षण करें ।''

भक्ति की मस्ती में देदाशाह ने अपनी रात प्रसार की । रात्रि के अंतिम प्रहर में उनको नींद आने लगी । थोड़ी ही देर में वे निद्राधीन बने तभी उस जेल में एक दिव्य पुरुष उपस्थित हुआ और उसने कहा, ``देद ! तुम खड़े हो जाओ, तुम्हारे बंधन टूट चुके हैं ।''

एक अज्ञात आवाज को सुनकर देदाशाह के आश्चर्य का पार न रहा । वे खड़े हो गए...उसी समय उन्होंने अपने आपको बंधनमुक्त होने का अनुभव किया ।

जेल के दरवाजे भी खुल चुके थे, द्वार पर खड़े द्वारपाल निद्राधीन बन चुके थे, देदाशाह जेल में से बाहर आ गए...और उसी समय वहाँ खडे घोड़े पर सवार हो गए । तत्क्षण वह घोड़ा दौड़ने लगा और थोड़ी ही देर में देदाशाह नांदुरी नगरी के राजमार्गों को पारकर काफी दूर निकल गए ।

रात्रि का अंतिम प्रहर पूरा हो गया । देदाशाह दूसरे नगर के निकट पहुँच चुके थे । पूर्व दिशा में सूर्य का उदय हो चुका था ।

देदाशाह घोड़े पर से नीचे उतरे । कुछ क्षणों के लिए उन्होंने नगर के द्वार की ओर नजर की और इधर वह घोडा अदृश्य हो गया ।

देदाशाह ने सोचा, ``यह सब स्तंभन पार्श्वनाथ प्रभु की ही मेहर है ।'' देदाशाह इतना सोच ही रहे थे कि उन्हें छींक आई और उन्होने अपने सामने अपनी धर्मपत्नी विमलश्री को देखा । उनके आश्चर्य का पार नहीं रहा । `अहो ! यह तो दूसरा चमत्कार ही हुआ है ।'

देदाशाह के दिल में रही प्रभु की आस्था और दृढ बन गई ।

इधर प्रातःकाल होने पर जब द्वारपाल ने कैद में रहे देदाशाह को नहीं देखा तो वह हक्का-बक्का रह गया । उसके आश्चर्य का पार न रहा ।

द्वार पर इतने बड़े मजबूत ताले लगे हुए थे और देदाशाह के हाथ-पाँव में भी बेड़ियाँ थीं तो देदाशाह भाग कैसे गए ?

प्रातःकाल होने पर राजा को जब इस बात के समाचार मिले तो उनके भी आश्चर्य का पार न रहा ।

`इतने बंधनों को तोड़कर देदाशाह भाग कैसे गया ?' इस प्रश्न का समाधान किसी को प्राप्त नहीं हो रहा था । सभी के आश्चर्य का पार नहीं था ।

इधर देदाशाह ने नांदुरी नगरी का हमेशा के लिए त्याग कर दिया और उन्होंने विद्यापुर नगरी को ही अपना निवास धाम बना लिया ।

बीज जब वृक्ष का आकार लेता है, तब उसकी पूर्णता मानी जाती है । इसी प्रकार नारी की पूर्णता भी सांसारिक दृष्टि से 'माँ' बनने में है ।

लग्न जीवन को स्वीकार किए वर्षों बीत चुके थे, परंतु अभी तक देदाशाह की पत्नी विमलश्री को माँ बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था ।

विद्यापुर नगर को अपना 'धाम' बनाने के बाद देदाशाह की कीर्ति में चार चांद लग गए थे । दिग्-दिगंत तक उनका निर्मल यश फैल चुका था ।

देदाशाह के पास कंचन-कामिनी और कीर्ति सब कुछ था, परंतु पुत्र-प्राप्ति के अभाव में उन्हें अपने जीवन में शून्यता का अनुभव हो रहा था ।

लंबी इंतजारी के बाद एक दिन विमलश्री के सौभाग्य का चांद खिल उठा । उसने रात्रि में एक सुंदर स्वप्न देखा ।

स्वप्न में विमलश्री ने अपने हाथों से एक दीप प्रगट किया । प्रारंभ में उस दीप का प्रकाश कम था, परंतु धीरे-धीरे उस दीप का तेज बढ़ता ही गया । उस दीप के प्रकाश से सागर का पानी भी चमकने लग गया ।'

इस उत्तम स्वप्न को देखकर विमलश्री जागृत हो गई । उसका मन प्रसन्नता से भर आया ।

उत्तम स्वप्न के उत्तम फल की आशा से उसने शेष रात्रि धर्म-ध्यान में प्रसार की ।

प्रातःकाल होने पर उसने अपने स्वप्न की बात अपने पतिदेव से कही । इस स्वप्न को सुनकर देदाशाह भी खुश हो गए ।

देदाशाह ने स्वप्नपाठक को इस स्वप्न का रहस्य पूछा ।

स्वप्न पाठक ने कहा, ``इस उत्तम स्वप्न के फलस्वरूप विमलश्री की कुक्षि में किसी उत्तम आत्मा का अवतरण हुआ लगता है, जो भविष्य में अपने पुण्य प्रभाव से जगमशहूर होगा ।''

देदाशाह और विमलश्री के आनंद का पार न रहा ।

विमलश्री गर्भवती बनी और एक शुभ दिन उसने अत्यंत ही तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

पुत्रजन्म की खुशहाली में देदाशाह ने विद्यापुर में दान की गंगा बहा दी ! अनेक का दारिद्र्य जीवन भर के लिए दूर हो गया ।

एक शुभ दिन बालक का नामकरण किया गया **पेथड़कुमार !**

दूज के चांद की भाँति पेथड़कुमार बड़ा होने लगा ।

ज्यों-ज्यों दिन बीतते हैं, त्यों-त्यों दूज के चाँद की कलाएँ विकसित होती जाती हैं, बस, समय के प्रवाह के साथ पेथड़ की काया तो विकसित हुई, इसके साथ उसका बौद्धिक विकास भी हुआ । शस्त्र और शास्त्र कला में वह निपुण बना ।

संतान के विकास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका माँ की होती है । माँ चाहे तो अपनी संतान को खूब संस्कारित कर सकती है ।

विमलश्री ने पेथड़ को संस्कारित करने का अपना दायित्व पूरा निभाया ।

पेथड़शाह में जो उदारता का गुण आया उसमें उनकी माँ की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी । इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं कि विमलश्री जब प्रभुदर्शन के लिए जाती तब प्रतिदिन गरीबों को सवासेर सोने के सिक्कों का दान करती थी ।

स्त्रियाँ अन्नदान उदारतापूर्वक कर सकती हैं परंतु धन का दान उनके लिए मुश्किल होता है । परंतु विमलश्री में यह अलौकिक विशेषता थी ।

पेथड़शाह के जीवन में उदारता आदि के संस्कारों का सिंचन करने में माँ विमलश्री की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी ।

नित्य प्रभु के दर्शन करना और गुरु को वंदन करना, ये दो नियम माँ ने ही दिए थे ।

पेथड़ ने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया और एक दिन सौभाग्य शालिनी 'प्रथमिणी' नाम की कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण हो गया ।

एक दिन विमलश्री उपवास के पारणे में खीर का भोजन करने की तैयारी कर रही थी, तभी एक मालिन फूलों की छाब लेकर वहाँ उपस्थित हुई । उसकी नजर खीर के भोजन पर गिरी । उसकी दृष्टि में जहर था । बस, थोड़ी देर बाद जब विमलश्री ने वह खीर खाई तो उसकी तन-लता दृष्टि के जहर से रोग ग्रस्त हो गई ।

अनेक औषधोपचार करने पर भी उसका वह रोग बढ़ता ही गया ।

विमलश्री को मृत्यु का किनारा नजदीक दिखाई दे रहा था । परिवार की चिंता से मुक्त बनकर वह आत्महित की चिंता में डूब गई । सभी जीवों के साथ उसने हृदय से क्षमायाचना की । सच्चे दिल से अरिहंत आदि की शरणागति स्वीकार की और एक पल में उसने अपने भरे-पूरे परिवार को छोड़ सदा के लिए विदाई ले ली ।

देदाशाह, पेथड़शाह, प्रथमिणी आदि के दु:ख का पार नहीं था । पेथड़शाह ने दु:खी हृदय से माँ की चिता में अग्नि प्रगटाई और कुछ ही क्षणों में विमलश्री का भौतिकदेह पंचभूत में विलीन हो गया ।

काल का प्रवाह धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा । देदाशाह की काया पर वृद्धावस्था सवार हो चुकी थी । वे भी अपने भावी को सुधारने के लिए प्रयत्नशील बन चुके थे । सभी जीवों के साथ उन्होंने हृदय से क्षमायाचना की । अरिहंत आदि की शरणागति का स्वीकार किया और एक शुभ दिन उन्होंने भी इस संसार से सदा के लिए विदाई ले ली ।

अपनी चिर विदाई के पूर्व देदाशाह ने पेथड़शाह को सुवर्ण सिद्धि का प्रयोग बतला दिया था परंतु चार दिन की चांदनी फिर अंधेरी रात की भाँति पेथड़शाह के भाग्य का चक्र अब उल्टा घूमने लगा ।

एक दिन अवसर देखकर पेथड़शाह ने जंगल में से सारी औषधियाँ इकट्ठी कर ली । उसके बाद उसने सुवर्ण सिद्धि का प्रयोग प्रारंभ किया । परंतु यह क्या ? लाख प्रयत्न करने पर भी पेथड़शाह को सुवर्णरस सिद्ध नहीं हो भी पाया । उसकी सारी मेहनत निष्फल गई । वह निराश हो गया ।

सचमुच ही भाग्य का चक्र जब उल्टा घूमता है तब मानव की सभा आशाओं के ऊपर पानी फिर जाता है । उसके सारे मनोरथ धूमिल हो जाते हैं ।

आकाश में उड़ने के लिए पंछी के दोनों पंख मजबूत चाहिए । एक भी पंख यदि कमजोर हो तो पंछी आकाश में उड़ नहीं सकता है । बस, जीवन में सफलता पाने के लिए प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों चाहिए । पेथड़शाह के सुवर्ण सिद्धि के प्रयोग में सिर्फ पुरुषार्थ था, परंतु प्रारब्ध उसे साथ नहीं दे रहा था, उसका पुरुषार्थ निष्फल गया ।

जब तक पास में धन था, तब तक उस धन के रक्षण की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, अब हाथ में से जब सारा धन चला गया तो अब पेथड़शाह दाने-दाने के लिए मोहताज हो गए ।

दिन-प्रतिदिन उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती ही गई । अपने छोटे से परिवार का जीवन निर्वाह करना भी पेथड़शाह के लिए कठिन हो गया ।

एक शुभ दिन मंत्र-तंत्र और यंत्र विद्या में बेजोड़ शासन-प्रभावक पूज्य आचार्य श्री धर्मघोषसूरिजी म.सा. का विद्यापुर नगर में सपरिवार आगमन हुआ । श्रीसंघ ने खूब उत्साह-उल्लास के साथ भावभीना हार्दिक स्वागत किया ।

उनकी प्रवचन-प्रतिभा अलौकिक थी । जैन दर्शन के पदार्थों का वे इतनी सरल भाषा में स्पष्टीकरण करते कि अच्छे-अच्छे अजैन विद्वान् भी दांतों तले अंगुली दबाने लगते ।

एक बार उन्होंने प्रवचन सभा में परिग्रह के पाप की भयंकरता का खूब सुंदर वर्णन किया । उनके उपदेश को सुनकर अनेक पुण्यात्माओं ने परिग्रह के परिमाण का व्रत स्वीकार किया ।

पेथड़शाह भी उस प्रवचन सभा में उपस्थित थे ।

पूज्य आचार्य भगवंत ने पेथड़शाह को भी परिग्रह के परिमाण के लिए प्रेरणा की ।

पेथड़शाह को अपनी आर्थिक स्थिति का पूरा-पूरा ख्याल था, अतः उन्होंने सोचा, 'पास में है क्या ?' परिग्रह परिमाण किसका करे ?

आचार्य भगवंत की नजर पेथड़शाह के हाथ पर गई । उन्होंने देखा- 'इस हाथ में छत्र, स्वस्तिक एवं मत्स्य का चिह्न है जो राजसत्ता, लोकप्रियता और पवित्र जीवन का प्रतीक है । बादल छिपा यह सूरज निकट भविष्य में ही जैन शासन की उज्ज्वल कीर्ति में चार चांद लगाएगा । यह तो जैन शासन का भाग्य विधाता बनेगा ।'

पूज्य आचार्य भगवंत की प्रेरणा को प्राप्तकर पेथड़शाह ने कहा, ``भगवंत ! 20 सोनामहोर का परिग्रह परिमाण कराएँ ।''

आचार्य भगवंत ने कहा, ``कुछ भी कार्य पहले सोच-विचार कर करना चाहिए, अन्यथा बाद में पछताना ही पडता है ।''

आचार्य भगवंत की यह बात सुनकर पेथड़शाह ने 100 सोनामहोर के परिग्रह परिमाण का निश्चय किया ।

पेथड़शाह के मुख से 100 सोनामहोर के परिग्रह-परिमाण की बात सुनकर कई अज्ञानी लोग मनोमन हँसने लगे । अहो ! जहाँ जो व्यक्ति एक-एक पैसे के लिए तरस रहा हो, वहाँ इतनी ऊँची कल्पनाएँ केवल हास्यास्पद नहीं तो और क्या हैं ?

पेथड़शाह के 100 सोनामहोर के परिग्रह-परिमाण की बात सुनकर भी आचार्य भगवंत तो मौन ही रहे ।

आखिर 100 से हजार, दस हजार और एक लाख सोनामहोर की बात आई तो भी आचार्य भगवंत मौन रहे ।

अंत में, आचार्य भगवंत ने पेथड़शाह को पाँच लाख सोनामहोर के परिग्रह परिमाण का नियम प्रदान किया ।

आचार्य भगवंत ने कहा, 'तुम्हारे आज के जीवन में अमावस्या है, परंतु भावी पूर्णिमा का तुम्हें कहाँ पता है ? अतः तुम्हारे भावी हित को देख करके ही 5 लाख के परिग्रह के परिमाण का नियम दिया है, ताकि तुम्हारा यह नियम टूटे नहीं ।'

5 लाख के परिग्रह परिमाण का नियम लेकर पेथड़शाह अपने घर लौट आए ।

पाप के त्याग की प्रतिज्ञा के स्वीकार में महान् लाभ रहा हुआ है । पाप के त्याग की प्रतिज्ञा न हो तो पाप नहीं करने पर भी पाप का बंध होता रहता है ।

अविरति के पाप के कारण ही एकेन्द्रिय आदि जीव पाप नहीं करते हुए भी पाप का बंध करते रहते है ।

भाग्य-उदय

एक दिन किसी निमित्त को पाकर अपना भाग्य अजमाने के लिए पेथड़शाह ने विद्यापुर नगर छोड़ दिया । वह अपनी पत्नी प्रथमिणी और पुत्र झांझण को साथ में लेकर मालवा की ओर आगे बढ़ा ।

उस समय मालव देश की राजधानी मांडवगढ़ थी ।

मांडवगढ़ नगर में प्रवेश के पूर्व पेथड़शाह योग्य शकुन की राह देख रहे थे । तभी उन्होंने नगर के प्रवेशद्वार पर अपनी फणाएँ फैलाकर बैठे हुए काले साँप को देखा । उस साँप की फणा पर चीबरी नाम का एक पंछी नृत्य कर रहा था ।

काले साँप को देख पेथड़शाह घबरा गए और वे वहीं रुक गए । चंद क्षणों में वह चीबरी पंछी सर्प की फणों पर से नीचे उतर गया ।

उसी समय एक ज्योतिषी वहाँ आ गया । उसने कहा, ``अहो ! मैं अवसर चूक गया । अमूल्य अवसर मेरे हाथ से चला गया ।''

पेथड़शाह ने पूछा- ``कौनसा अवसर ?''

ज्योतिषी ने कहा, ``जिस समय यह चीबरी पंछी साँप की फणाओं पर नृत्य कर रहा था, उस समय मैंने नगर में प्रवेश किया होता तो मेरा दारिद्र्य दूर हो जाता । पेथड़शाह ने कहा, ``अरे ! मैं तो यहीं खड़ा था अब मेरा क्या होगा ?''

ज्योतिषी ने कहा, `उस समय तुमने नगर-प्रवेश किया होता तो तुम अवंतिदेश के सम्राट् बनते । खैर, अब भी प्रवेश कर लोगे तो ताज बिना के राजा तो अवश्य बन सकोगे ।'

ज्योतिषी की वह बात सुनते ही एक पल की भी देरी किए बिना पेथड़शाह ने मांडवगढ़ की सीमा में प्रवेश कर लिया ।

उसी समय पेथड़शाह ने मनोमन संकल्प किया कि यदि सत्ता की डोर मेरे हाथ में आ गई तो मैं इस पृथ्वी को जिनमंदिरों से विभूषित कर दूंगा । मालब देश में से सात व्यसनों का बहिष्कार करा दूंगा ।

नगर-प्रवेश के बाद पेथड़शाह ने सर्वप्रथम उस नगर में `नमक' का

व्यापार चालू किया । धीरे-धीरे पुण्य का पवन अनुकूल होने लगा और उसका व्यापार बढ़ने लगा ।

व्यापार में न्याय और नीति का पालन करने के कारण एक इमानदार व्यापारी के तौर पर उसकी साख दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी ।

एक शुभ दिन एक ग्वालिन घी का घड़ा लेकर पेथड़शाह की दुकान पर आई ।

ग्वालिन ने वह घी का घड़ा अपनी इंडोनी पर रखा । पेथड़शाह द्वारा घड़े में से घी निकालने पर भी वह घी का घड़ा खाली नहीं हुआ बल्कि घी उतने का उतना रहा । यह दृश्य देख पेथड़शाह ने सोचा, `जरूर इस इंडोनी के साथ चित्राबेल होनी चाहिए । इसके सिवाय यह संभव नहीं है ।

बस, उसी समय मुंह मांगे दाम देकर पेथड़शाह ने उस इंडोनी के साथ ही ग्वालिन के पास से घी का घड़ा खरीद लिया ।

ग्वालिन भी मुँह माँगे दाम पाकर खुश हो गई । पेथड़शाह की खुशी का भी पार न रहा ।

पेथड़शाह ने अब धंधा बदल दिया । नमक के बदले उसने घी का व्यापार चालू किया । सुगंधित, स्वादिष्ट व शुद्ध घी को पाकर लोग भी खुश होने लगे ।

कुछ ही दिनों में पेथड़शाह की आर्थिक स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन आ गया । दिन-प्रतिदिन उसकी समृद्धि बढ़ने लगी ।

पेथड़शाह का ताजा घी अब जयसिंह राजा के महल में भी पहुँचने लगा ।

एक दिन राजा की दासी राजा के लिए घी लाने हेतु देरी से आई । झांझणशाह ने उसे घी देने से इन्कार कर दिया । दासी ने जाकर राजा के कान फूँके ।

राजा ने तत्काल पेथड़शाह को राजदरबार में उपस्थित होने की आज्ञा की । थोड़ी ही देर में राजसेवकों के साथ पेथड़शाह राजदरबार में उपस्थित हो गए ।

राजा ने पेथड़शाह को धमकाते हुए पूछा, ``तू ने मेरी दासी को घी क्यों नहीं दिया ?''

पेथड़शाह ने कहा, ``दुकान पर मैं नहीं था, मेरा बेटा झांझण था।''

राजा ने तत्काल झांझण को राजदरबार में बुलवाया।

राजा ने जब दासी को घी न देने के बदले झांझण को ठपका दिया तो अत्यंत नम्र होकर झांझण ने कहा, ``महाराजा ! मैंने आपके भावी हित को देखते हुए ही दासी को घी देने से इन्कार किया था।''

राजा ने कहा, ``कैसा हित ?''

झांझण ने कहा, ``दासी को आते हुए देख जैसे ही मैं घी लाने के लिए खड़ा हुआ तभी भावी अमंगल की सूचक मुझे छींक आ गई थी, मैंने सोचा, शायद घी के पात्र में कोई जहरीला प्राणी गिर गया हो भावी अमंगल का सूचक जानकर मैंने घी देने से इन्कार कर दिया।''

``दूसरी बात यह भी थी कि एक ओर आपका पुण्य प्रभाव मध्याह्न के सूर्य की भाँति चमक रहा है तो ऐसे प्रसंग पर कई गुप्त दुश्मन भी खड़े हो जाते हैं। खुले घी में कोई गुप्त रूप से विष आदि डालकर आपके लिए कोई आपत्ति खड़ी न कर दे, इस उद्देश्य से भी मैंने इन्कार कर दिया था।

``महाराजा ! आपका मंत्री मंडल भी कैसा है ? उन्होंने भी आपको इस विषय में कोई संकेत नहीं किया।''

नीतिशास्त्र में पाँच प्रकार के मंत्री बतलाए हैं–

1) साँप जैसे :- साँप जब काटता है तब खून निकलता है, वह खून न साँप तो काम लगता है और न अन्य किसी को ! बस, इसी प्रकार साँप जैसे मंत्री प्रजा के पास से धन लेते हैं, वह धन न तो राजा को काम लगता है और न प्रजा को !

2) प्रतिध्वनि जैसे :- कई मंत्री राजा की चापलूसी मात्र करते रहते हैं। राजा की हर बात में सिर्फ हाँ भरते हैं, परंतु राजा के हित का विचार नहीं करते हैं।

3) दर्पण जैसे :- कई मंत्री दर्पण में गिरे प्रतिबिंब की तरह राजा के साथ-साथ चलते हैं, परंतु उनका योग्य-अयोग्य सूचनाओं के साथ कोई संबंध नहीं होता है।

4) दीपक जैसे :- कुछ मंत्री दीपक की तरह सिर्फ सही दिशा बतला देते हैं परंतु सही दिशा में चलने के लिए प्रेरित नहीं करते हैं ।

5) अंकुश जैसे :- अंकुश हाथी को वश में रखता है और सही दिशा की ओर प्रेरित करता है, वैसे ही अंकुश जैसे मंत्री राजा को सही दिशा की ओर आगे बढ़ाने की कोशिश करते हैं ।

``महाराजा ! अंकुश जैसे मंत्री विरल ही होते हैं, ऐसे मंत्रियों से ही महाराजा की कीर्ति दिग्दिगंत तक फैलती है ।''

झांझणशाह की इन बातों को सुनकर राजा का कोप दूर हो गया और वे बहुत खुश हो गए ।

झांझणशाह के बुद्धि कौशल को देख महाराजा उसे मंत्री मुद्रा देने लगे, तभी उसने कहा, ``इस पद के लिए तो मेरे पिता ही योग्य हैं, मैं तो उनकी चरणरज भी नहीं हूँ ।''

झांझणशाह की इस नम्रता को देखकर राजा की खुशी का पार न रहा...और कुछ ही क्षणों में अपराधी के तौर पर उपस्थित हुए पेथड़शाह को महाराजा ने मंत्री मुद्रा प्रदान कर गौरवांन्वित कर दिया ।

चारों ओर खुशी का वातावरण छा गया ।

पेथड़शाह अब एक सामान्य नागरिक मिटकर मांडवगढ़ के महामंत्री बन चुके थे । सत्ता की प्राप्ति के बाद वे अपने कर्तव्यों के प्रति अधिक सावधान बन गए ।

मंत्रीपद की प्राप्ति के बाद पेथड़शाह ने सर्वप्रथम प्रजा पर रहे 'कर-भार' को हल्का कर दिया । राजकोष में धन की वृद्धि हो, ऐसे उपाय चालू कर दिए ।

दूसरी ओर दीन-दुःखी और गरीबों के प्रति वे दिल खोलकर बरसने लगे ।

पेथड़शाह महामंत्री के दिल की उदारता एवं दानवृत्ति के कारण उनकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी ।

एक बार महाराजा को पता चला कि पेथड़शाह के पास चित्राबेल है, उसे मांगने का मन हो गया । परंतु राजा मांगे, उसके पहले ही उदार-हृदय

पेथड़शाह ने वह राजा को भेंट कर दी । वस्तु मिलने पर भी पुण्य से ही टिकती है । थोड़े ही समय में राजा ने वह चित्रावेल खो दी ।

एक शुभ दिन पेथड़शाह महामंत्री के दिल में जीरावला पार्श्वनाथ प्रभु की यात्रा करने का मनोरथ हुआ, उन्होंने अपने दिल की बात महाराजा के सामने प्रस्तुत की । महाराजा ने सहर्ष अपनी अनुमति प्रदान की ।

जयसिंहदेव महाराजा की अनुज्ञा प्राप्त कर मंत्रीश्वर पेथड़शाह ने मांडवगढ़ से जीरावला की ओर प्रयाण प्रारंभ किया ।

कुछ ही दिनों के निरंतर प्रयाण के बाद पेथड़शाह जीरावला पार्श्वप्रभु के चरणों में उपस्थित हो गए । भावविभोर होकर उन्होंने प्रभु के दर्शन किए । उनका मनमयूर नाच उठा !

जीरावला पार्श्व प्रभु के दर्शन कर पेथड़शाह ने आबू तीर्थ में रहे आदिनाथ दादा के दर्शन किये, उसके बाद सुवर्ण सिद्धि के प्रयोग की भावना से वे आबू पर्वत पर पहुँचे, वहाँ जाकर सुवर्ण सिद्धि के प्रयोग के लिए जरूरी औषधियों का संग्रह किया । उन औषधियों का रस तैयार किया गया फिर उस रस को लोहे पर लगाकर, लोहे की अग्निकुंड में डाला गया...और एक अद्‌भूत आश्चर्य हुआ । जितना भी लोहा डाला था, वह सब सोना हो गया ।

पेथड़शाह के आनंद का पार न रहा । सुवर्ण सिद्धि के प्रयोग का प्रयत्न तो पहले भी हुआ था, परंतु उस समय भाग्य का साथ नहीं था...और आज भाग्य दो कदम आगे चल रहा था ।

'सुवर्णसिद्धि' के प्रयोग से अब जितना सोना बनाना हो, बन सकता है । बस, पेथड़शाह ने पवनवेगी सांडनी को तैयार कर उसे मांडवगढ़ भेजा । पेथड़शाहने झांझण को समाचार दिये कि 'सुवर्णसिद्धि' का प्रयोग सफल हो चुका है, अतः जितना संभव हो, उतना लोहा यहाँ भेज दिया जाय ।

समाचार मिलते ही झांझण ने अनेक सांडनियों को तैयार कर ढेर सारा लोहा आबू की ओर रवाना किया ।

पेथड़शाह ने वह सारा लोहा सोने में बदल दिया । अब मानों सोने का पर्वत खड़ा हो गया था । बस, अब पुनः मांडवगढ़ लौटने का था ।

पेथड़शाह ने जब लोहे को सोने में रूपांतरित होते हुए अग्नि कुंड

को देखा तो उसके मुँह से आह निकल गई ।

``ओहो ! धन के इस लोभ ने मेरे द्वारा कितनी भयंकर हिंसा करा दी ! इस आग में कितने जीवों का संहार हुआ होगा ।''

और दूसरे ही क्षण पेथड़शाह का हृदय पश्चात्ताप से भर आया । उसने उसी क्षण संकल्प किया कि भयंकर आरंभजन्य यह सुवर्णसिद्धि का प्रयोग वह अपने जीवन में दूसरी बार कभी नहीं करेगा...वह अपना यह प्रयोग झांझण को भी नहीं बताएगा, इतना ही नहीं, सुवर्णसिद्धि के प्रयोग से उत्पन्न वह सारा धन जिनशासन के चरणों में अर्पित कर देगा । एक दिन पेथड़शाह ने आबू से प्रयाण किया । ढेर सारे सुवर्ण के साथ पेथड़शाह ने मांडवगढ़ में प्रवेश किया ।

पेथड़शाह ने जब अपनी संपत्ति का हिसाब लगाया तो पता चला कि उसकी चल-अचल संपत्ति पाँच लाख की मर्यादा को पारकर चुकी है और आबू पर्वत पर तैयार किया सुवर्ण तो अलग ही है ।

बस, अपने परिग्रह-परिमाण की मर्यादा का भंग न हो, इस हेतु उसने अधिक रही सारी संपत्ति अलग कर दी ।

पेथड़शाह की निर्मल कीर्ति दिग्-दिगंत तक फैल चुकी थी...एक दिन जैनशासन के भावी स्वप्न दृष्टा पूज्य आचार्य भगवंत ने भी अवंतिदेश की ओर अपनी विहार यात्रा प्रारंभ कर दी ।

क्रमशः आगे बढ़ते हुए पूज्य आचार्य भगवंत ने एक शुभ दिन अवंति की सीमा में प्रवेश कर दिया ।

माधव नाम के भाट-चारण ने जब ये समाचार मंत्रीश्वर पेथड़शाह को दिए तो उनका मन मयूर खुशी से नाच उठा ।

हर्ष के अतिरेक में उन्होंने अपने प्राप्त प्यारे गुरुदेव के आगमन की बधाई देनेवाले माधव को हीरे जड़ित सोने की जीभ, सोने के आभूषण व मूल्यवान वस्त्र प्रदानकर उसके जीवन भर का दारिद्र्य दूर कर दिया ।

माधव के आनंद का पार न रहा ।

मंत्रीश्वर ने महाराजा से बात की । महाराजा भी पूज्य गुरुदेवश्री के आगमन को जानकर प्रसन्न हो गए । संपूर्ण मांडवगढ़ नगर को देवनगरी की भांति सजा दिया गया ।

...और एक शुभ क्षण में पूज्य आचार्य भगवंत ने अपने विशाल परिवार के साथ मांडवगढ़ की धरती पर पदार्पण किया । एक साथ अनेक वाद्ययंत्र गूंज उठे । चारों ओर आनंद आनंद छा गया । हजारों नर-नारी पूज्य आचार्यदेवश्री के आगमन से अपने आपको धन्य मान रहे थे । अपने गुरुदेव की उस प्रवेशयात्रा के पीछे गुरुभक्त पेथड़शाह ने उस जमाने में 72000 (पुराने सिक्के) का सद्व्यय किया था ।

एक दिन एकांत देखकर पेथड़शाह पूज्य आचार्य श्री धर्मघोषसूरिजी म. के चरणों में उपस्थित हो गए और अपने भावी कर्तव्य हेतु मार्गदर्शन प्रदान करने की विनंति करने लगे ।

पूज्य आचार्य भगवंत ने कहा, ``भाग्यशाली ! भाग्य ने जब साथ दिया है तो अब अपनी असार लक्ष्मी को जिनशासन के सात क्षेत्रों की उन्नति में लगाना ठीक होगा ।

जिन मंदिर और जिन प्रतिमा ये तो भवसागर से पार उतरने के लिए नाव के समान है तो जिनागम भवसागर में ध्रुव तारे के समान है । अतः अपनी असार संपत्ति से जिनमंदिर व जिनप्रतिमा का निर्माण करा सकोगे तो वीतराग वाणी के सत्य प्रकाशक जिनागमों का नव्य आलेखन कराकर उनका संरक्षण किया जाय ।

जैन साधु-साध्वी की भक्ति की जाय और समानधर्मी ऐसे साधर्मिकों के समुद्धार के लिए योग्य प्रयत्न किया जाय तो जैनशासन की अमरज्योति दिग् दिगंत तक प्रकाशमान बन सकेगी ।''

पूज्य आचार्य भगवंत के इस सदुपदेश को पाकर मंत्रीश्वर खुश हो गए ।

अपने परिग्रह परिमाण व्रत की मर्यादा का रक्षण करते हुए वे अपनी सारी संपत्ति जिनशासन के चरणों में धरने के लिए तैयार थे ।

अपने सत्कार्यों का मंगल प्रारंभ करते हुए पेथड़शाह ने सर्वप्रथम मांडवगढ़ में शत्रुंजयावतार मंदिर बनाने का निश्चय किया ।

जयसिंह महाराजा के उनके मस्तक पर चार हाथ थे । अतः मंदिर-निर्माण के लिए योग्य जगह प्राप्त करने में देर न लगी ।

एक शुभ दिन मंदिर-निर्माण के कार्य का शुभारंभ भी हो गया ।

संगमरमर की खानों में से मूल्यवान पत्थर आने लगा । सैकड़ों शिल्पियों को एक साथ काम मिल गया । सभी शिल्पी दिल खोलकर अपनी कला का प्रदर्शन करने लगे ।

देखते-ही-देखते 72 देरियों से युक्त सुविशाल जिनमंदिर का निर्माण कार्य पूर्ण हो गया । प्रत्येक देरी पर सोने का कलश एवं सोने का दंड स्थापित किया गया ।

एक विशाल भव्य समारोह के साथ धर्मघोषसूरिजी म. के वरद हस्तों से शत्रुंजयावतार जिनमंदिर की प्रतिष्ठा विधि खूब हर्षोल्लास के साथ संपन्न हुई ।

इस मंदिर के निर्माण में मंत्रीश्वर ने 18 लाख रुपयों का खर्च किया था ।

'शत्रुंजयावतार' मंदिर-निर्माण के बाद महामंत्री पेथड़शाह शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा के लिए शत्रुंजय गए । वहाँ दादा के दर्शन कर भावविभोर बन गए ।

शत्रुंजय तीर्थ पर रहे शांतिनाथ जिनालय की जीर्ण अवस्था को देखकर उनका मन द्रवित हो गया । तत्काल उस जिनालय के जीर्णोद्धार का बीड़ा उठाया और एक शुभ दिन मंदिर के जीर्णोद्धार का कार्य प्रारंभ हो गया ।

कुछ ही वर्षों में मंदिर के जीर्णोद्धार का कार्य पूर्ण हो गया और एक शुभ दिन-शुभवेला में 72 शिखरों से युक्त शांतिनाथ जिनालय की पुनः प्रतिष्ठा विधि संपन्न हो गई ।

पेथड़शाह के आनंद का पार न रहा । पेथड़शाह के सुकृतों की कीर्ति दिग्-दिगंत तक फैलने लगी । इस जीर्णोद्धार के बाद तो वे 'सुकृत-सागर' के नाम से प्रख्यात हो गए ।

शांतिनाथ प्रभु के जीर्णोद्धार के बाद पेथड़शाह ने तारापुर, भद्रावती, वांकानेर, धारा नगरी, नागपुर, जयपुर, उज्जयिनी, देपालपुर, जयसिंहपुर आदि जिनमंदिरों से रहित अनेक नगरों में नूतन जिनमंदिर-निर्माण का कार्य चालू करा दिया ।

पेथड़शाह ने अमाप संपत्ति का सद्व्यय कर 34 जिनमंदिरों का निर्माण कराया ।

ब्रह्मव्रत स्वीकार

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी ! उस काल के गुर्जर इतिहास में 'ताम्रवती' नगरी का अपना बड़ा स्थान-मान था । धन-धान्य से समृद्ध होने के कारण वह सबके आकर्षण का केन्द्र थी । व्यापार-व्यवहार व उद्योगों के साथ-साथ इस नगर के गगनचुम्बी जिनालय भी सभी का ध्यान खींचते थे । पास ही में आए सागर की तरंगें जब हिलोलें चढ़तीं...तब तो वह दृश्य देखने योग्य ही बनता था ।

कालक्रम से इस शहर की समृद्धि का ह्रास होता चला गया और आगे चलकर यही नगर 'स्तंभनपुर'...और फिर 'खम्भात' के नाम से प्रख्यात हुआ ।

उस ताम्रवती नगरी में 'भीम' नाम का श्रेष्ठी रहता था । 'भीम' मानों पुण्य का साक्षात् सितारा था । उसकी सम्पत्ति और समृद्धि का कोई पार नहीं था । प्रचुर सम्पत्ति होने के बावजूद भी आश्चर्य तो इस बात का था कि वह उस सम्पत्ति का 'दास' नहीं था...वह उस सम्पत्ति में लुब्ध नहीं था ।

सम्पत्ति का होना अलग बात है और सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करना अलग बात है । दुनिया में कई लोगों के पास सम्पत्ति तो होती है परन्तु अपनी लोभ वृत्ति के कारण वे सम्पत्ति के मालिक बनकर नहीं, किन्तु दास बनकर ही जीते हैं । वे बैंक के खजांची कैशियर की भाँति लाखों रुपए गिन तो सकते हैं, किन्तु उनका सद्व्यय नहीं कर सकते ।

'मारुति कार' कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, परन्तु उसका ब्रेक हाथ में न हो तो उसमें बैठने की कौन हिम्मत कर सकता है ? जिस प्रकार हाथी के लिए अंकुश और घोड़े के लिए लगाम होना जरूरी है, उसी प्रकार मानवीय बुद्धि पर विवेक का अंकुश होना चाहिए । यदि ऐसा न हो तो उसे प्राप्त शक्ति, सम्पत्ति और समृद्धि विकास के बजाय विनाश को ही आमंत्रण देती है ।

'भीम' श्रेष्ठी ने अपनी जीवन नैय्या पू. आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिजी म. को सौंपी थी ।

समुद्र को पार करना है तो या तो स्वयं नाविक बनो, अन्यथा

नाविक के हाथ में अपनी लगाम सौंप दो । इसके अलावा तीसरा कोई मार्ग नहीं है ।

भवसागर के पार पहुँचना है तो या तो स्वयं गीतार्थ बनो, अन्यथा गीतार्थ की आज्ञा स्वीकार करो, इसके सिवाय कोई चारा नहीं है ।

भीम ने अपना जीवन गुरु-चरणों में समर्पित किया था । वह उनके सफल मार्गदर्शनानुसार श्रावकोचित जीवन जीता था ।

सद्धर्म के मार्गदर्शक गुरुदेव के प्रति उसके दिल में अपूर्व भक्ति थी । वह उनकी आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करता था ।

समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा...और एक दिन भीम श्रेष्ठी को समाचार मिले कि उसके तारक गुरुदेव देवेन्द्रसूरिजी म. नश्वर देह का त्याग कर स्वर्ग सिधार गये हैं । समाचार सुनते ही भीम को अत्यन्त आघात लगा । अहो ! मेरे तारक गुरुदेव ! आप मुझे छोड़कर कहाँ चले गए ? अब मेरी जीवन नैय्या का सुकानी कौन होगा ? अब मुझे मार्गदर्शन कौन देगा ? भीम का दिल अत्यन्त संतप्त हो उठा । वह हत-प्रहत हो गया ।

गुरु के वियोग में उसने पकाये हुए अन्नाहार का त्याग कर दिया । फलादि के आधार पर अपना जीवन बिताने लगा ।

समय की गति को कौन रोक सकता है ? उसका प्रवाह तो सतत गतिमान है । आज उस बात को बारह वर्ष बीत गये । अचानक भीम के दिल में गुरुदेव की वह 'पुण्य प्रतिमा' जागृत हो गई । मानों जीवन का अन्तिम संदेश सुनाने के लिए गुरुदेव उपस्थित हुए हों । उसे गुरुदेव की वह वाणी याद आ गई ।

''संसार के सभी पदार्थ क्षणिक हैं, नाशवंत हैं । उनका स्वामित्व अल्पकालीन है, अतः धन-सम्पत्ति का अभिमान, मद और संग्रह न कर उसका सात क्षेत्रों में वपन कर देना चाहिए । धन की तीन गतियाँ दान, भोग और नाश कही गई हैं । दान और भोग में नहीं जाने वाले धन का नाश तो अवश्य होने ही वाला है । अरे ! भोग में भी धन की सफलता कहाँ है ? पाँचों इन्द्रियों के भोगों में व्यय किया गया धन तो दुर्गतिदायक है...वह तो आत्मा को भयंकर दुर्गति में ले जाने वाला है । सचमुच धन की सच्ची सफलता तो दान-धर्म में ही है । जो व्यक्ति धन का सात क्षेत्रों

में वपन नहीं कर पाता है, उसके लिए चारित्र-धर्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है...अतः धन के ममत्वबन्धन को छेदकर उसका शुभ क्षेत्र में सदुपयोग कर लेना चाहिए।''

गुरुदेव की यह अमृतवाणी भीम के कानों में गूँज उठी।

वह सोचने लगा-``वृद्धावस्था द्वार पर आकर खड़ी है...पता नहीं, कब मृत्यु का दूत आकर मुझे दबोच लेगा। तो क्यों नहीं, अपने ही हाथों से जीवन में कुछ ऐसा सुकृत कर लूँ जिससे मेरी जीवन नैय्या सहजता-सरलता से भवसागर को पार कर ले।''

कुछ सोचते-सोचते उसे विचार आया-***''अहो ! तारक तीर्थंकर परमात्मा ने सब व्रतों में ब्रह्मचर्य की महिमा सबसे अधिक बतलाई है, ब्रह्मचर्य एक महान् व्रत है। उन महामुनियों को धन्य है जो संसार के समस्त बन्धनों को त्याग कर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, साथ में वे श्रावक भी धन्यवाद के पात्र हैं, जो अपने गृहस्थ जीवन में, यौवनादि वय में दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार कर, उस व्रत का निर्दोष रूप से पालन करते हैं...तो क्यों न मैं उन सब ब्रह्मव्रतधारी श्रावकों का बहुमान करूँ ?''***

जिस गुण की अपने में कमी हो और उस गुण को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा हो तो उसका एक श्रेष्ठ उपाय है...आप उस गुण वाले व्यक्ति की प्रशंसा करें, उसका बहुमान करें...उसके प्रति सद्भाव रखें...अपनी शक्ति अनुसार उसकी भक्ति करें।

गुण और गुणी का बहुमान करने से, यदि वह गुण अपने में न हो तो हमें उस गुण की प्राप्ति होती है और यदि वह गुण हो तो वह और अधिक पुष्ट एवं दृढ़ बनता है।

भीम श्रेष्ठी ने भी अपने जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया था। उसे ब्रह्मचर्य गुण के प्रति अत्यन्त ही बहुमान का भाव था, अतः उसने निर्णय किया कि समग्र गुजरात और आसपास के राज्यों में जितने भी ब्रह्मचर्यव्रतधारी साधर्मिक हैं, उन सबको पाँच-पाँच श्रेष्ठ वस्त्रों के साथ एक भव्य पीताम्बरी भिजवाकर उन सबका आदर-बहुमान करुँ।

बस, श्रेष्ठी के निर्णय के साथ कुछ ही समय में श्रेष्ठ वस्त्र तैयार

करवा दिये गये और काश्मीर आदि से अत्यन्त ही कीमती भव्य पीताम्बरियाँ भी मँगवा दी गईं ।

भीम श्रेष्ठी की आज्ञा पाकर उसके सेवक, दूर-दूर क्षेत्रों में पहुँच गए और गुर्जर राज्य में जितने भी ब्रह्मव्रत के उपासक साधर्मिक थे, उन सबको पाँच कीमती वस्त्र और एक पीताम्बरी भेंट दी गई । सभी व्रतधारी श्रावकों ने भी भीम श्रेष्ठी की इस भेंट को सबहुमान स्वीकार किया ।

गुजरात के सभी व्रतधारी साधर्मिकों की भक्ति करने के बाद अवन्ती के भी साधर्मिकों की भक्ति की गई ।

अचानक भीम श्रेष्ठी को मांडवगढ़ के महामंत्री 'पेथड़ शाह' की याद आ गई । जिनधर्म की उपासना के साथ-साथ, जिनशासन की प्रभावना के लिए जो प्रयत्न और पुरुषार्थ पेथड़शाह ने किये थे, उसकी याद भीम के दिल में तरोताजा हो गई ।

देवगिरि में जिनमंदिर के निर्माण के लिए महामंत्री पेथड़ ने उदारतापूर्वक और नि:स्पृहतापूर्वक जो धन व्यय किया था, उसका इतिहास किसी से छिपा हुआ नहीं था । साधर्मिक-भक्ति, जीव-दया, अनुकम्पा, परमात्म-भक्ति, गुरु-भक्ति आदि-आदि गुणों के कारण पेथड़शाह की कीर्ति में तो चार चांद लगे ही थे, इसके साथ अनेक आत्माएँ भी जिनशासन की अनुरागी बनी थीं ।

भीम श्रेष्ठी ने सोचा, ``ऐसे शासन प्रभावक महामन्त्री का भी अवश्य बहुमान करना चाहिए'' इस प्रकार विचार कर भीम श्रेष्ठी ने अपने एक सेवक को सर्वश्रेष्ठ पीताम्बरी के साथ मांडवगढ़ भेजा ।

कुछ दिनों की लम्बी यात्रा के बाद वह सेवक मांडवगढ़ पहुँचा और महामंत्री पेथड़शाह से मिला ।

पेथड़शाह ने भीम का पत्र पढ़ा । पत्र पढ़ते ही वे सोचने लगे, ``अहो ! भीम ने मुझे यह भेंट भिजवाई है, परन्तु मैं इस ब्रह्मव्रत का उपासक कहाँ हूँ ? साधर्मिक की भेंट का अनादर भी तो नहीं करना चाहिए ।''

तभी वह सेवक भीम द्वारा प्रदत्त पीताम्बरी महामंत्री के कर-कमलों में भेंट स्वरूप धरने लगा ।

महामंत्री ने कहा-``अहो ! यह तो महान् पवित्र भेंट है । इसके प्रत्येक तंतु में ब्रह्मव्रत का प्रभाव है, अत: मुझे इस महान् भेंट को ऐसे ही ग्रहण नहीं

करना चाहिए, उसका भव्य स्वागत करना चाहिए ।''

महामंत्री ने आगन्तुक सेवक को कहा, ''आप नगर बाहर विश्रामगृह में पधारो, मैं इस भेंट का भव्य स्वागत करना चाहता हूँ ।''

बस, ऐसा ही हुआ ! वह सेवक नगर बाहर गया और इधर महामंत्री पेथड़शाह ने नगर में स्थान-स्थान पर तोरण बँधवाए । संगीत के सुरीले स्वरों व वाद्य यंत्रों के साथ गजराज पर उस भेंट को आरुढ़ कर उसका भव्य नगर-प्रवेश कराया गया ।

गजराज पर भीम श्रेष्ठी का सेवक बैठा था...और उसके हाथों में दिव्य पीताम्बरी चमक रही थी । सभी लोग भीम श्रेष्ठी की उदारता की और ब्रह्मव्रतधारियों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने लगे ।

इस शोभायात्रा की समाप्ति के बाद महामंत्री ने भीम श्रेष्ठी की उस भेंट का हार्दिक स्वागत किया...और उस सेवक को सबहुमान विदाई दी ।

समय बीतने लगा ।

महामंत्री पेथड़ शाह ने अभी तक उस पीताम्बरी का उपयोग नहीं किया था । उन्होंने वह भेंट अपने दर्शनीय खंड में रखी थी । वे प्रतिदिन उस भेंट का दर्शन करते और ब्रह्मव्रत स्वीकार के लिए मन-ही-मन मनोरथ करते ।

महामंत्री पेथड़शाह जिस दिन मंत्री पद पर सत्तारूढ़ हुए थे, उस वर्ष से लेकर प्रतिवर्ष विजयादशमी के दिन, उन्हें अनेक राजा-महाराजाओं की ओर से उत्तमोत्तम भेंट प्राप्त होती थी, परन्तु महामंत्री उनमें से किसी का भी स्वयं उपभोग नहीं करते थे ।

एक बार महामंत्री अपने देव-गृह में रही इस पीतांबरी के दर्शन व पूजन कर रहे थे, तभी प्रथमिणी वहाँ आ गई ।

प्रथमिणी महामंत्री पेथड़ शाह की धर्मपत्नी थी । प्रथमिणी ने सोचा, ''मेरे स्वामीनाथ इस पीतांबरी का उपयोग क्यों नहीं करते हैं ? राजा-महाराजाओं की भेंट को नहीं पहिनना अलग बात है, किन्तु यह तो साधर्मिक की भेंट है, यह तो साधर्मिक की अंतर भावना का प्रतीक है, उसे इस प्रकार कैसे ठुकराया जाय ?''

आखिर प्रथमिणी ने अपने स्वामी से पूछ ही लिया, ''स्वामिन् ! साधर्मिक की इस भेंट का इस प्रकार अनादर क्यों ?''

''अनादर कैसे ? मैंने तो उसका हार्दिक स्वागत करवाया था'', पेथड़ ने कहा ।

''तो फिर इस पीतांबरी का परिधान क्यों नहीं करते हो ?'' प्रथमिणी ने एक स्वर से कह दिया ।

''प्रिये ! तुझे पता है न, भीम श्रेष्ठी ने ब्रह्मव्रत के उपासक साधर्मिकों को यह भेंट दी है...मैं इस ब्रह्मव्रत का उपासक कहाँ हूँ ?''

''ओह ! आप इस कारण से इस पीतांबरी का परिधान नहीं कर रहे हो तो अब ढील किस बात की ?'' प्रथमिणी ने कहा ।

''प्रिये ! मेरे दिल में तो कभी से यह बात घूम रही थी...परन्तु इस कार्य के लिए तुम्हारी सहमति भी तो चाहिए थी न ?''

'स्वामिन् ! इतनी ही बात है न ? तो लो, मेरी सम्मति है...कल ही चल कर गुरुदेव के पास आजीवन ब्रह्मव्रत स्वीकार करें ।'

भीम श्रेष्ठी ने 700 साधर्मिकों को अपनी ओर से पीताम्बरी भेंट की थी । महामंत्री पेथड़शाह को जिस दिन पीतांबरी प्राप्त हुई थी, उसी दिन से उसका मन इन्द्रिय-विषयों से विरक्त बन गया था ।

कहा भी है-***''सज्जन पुरुष सामान्य निमित्त को पाकर भी बोध पा लेते हैं, जबकि मूढ़ व्यक्तियों को कितना भी उपदेश क्यों न दिया जाय, वे फिर भी प्रतिबोध नहीं पाते हैं । अस्वच्छ मणि और वस्त्र को प्रयत्न द्वारा साफ कर सकते हैं और उनके ऊपर रंग चढ़ाया जा सकता है, परन्तु जो कोयले की भाँति दुर्विदग्ध पुरुष होते हैं, उनका रंजन करने में कौन समर्थ है ?''***

दुनिया में अनेक प्रकार के लोग हैं । कुछ लोग विषय वासना रूप जल के लिए मिट्टी समान होते हैं । कुछ लोग विषय वासना रूप जल के लिए पत्थर समान होते हैं-जो विषयों के जल में डूब जाते हैं और कुछ उत्तम पुरुष विषयरूपी जल के लिए जलकांत मणि की भाँति होते हैं, जो विषयों के संग में कभी नहीं डूबते हैं ।

हिरण के लिए जाल बन्धन रूप होता है, हाथी के लिए लोहे की शृंखला (जंजीर) बन्धन रूप होती है और मूढ़जनों के लिए आशा बन्धन रूप होती है, जबकि सत्पुरुषों के लिए सांसारिक भोग-सुख बन्धन रूप

नहीं बनते हैं ।

सहज भाव से पत्नी-मुख से ब्रह्मचर्यव्रत की स्वीकृति जान कर पेथड़ शाह का मन आनन्द से भर आया ।

पेथड़ शाह ने कहा, 'प्रिये ! इस उदात्त भावना के कारण तू धन्यवाद की पात्र है ।'

बस, दूसरे ही दिन महामंत्री पेथड़शाह और मंत्रीपत्नी प्रथमिणी ने सद्गुरुदेव के श्रीमुख से चतुर्विध संघ की उपस्थिति में महान् ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार किया ।

महामंत्री पेथड़ शाह की उम्र मात्र 32 वर्ष की थी । उनके मुखमण्डल, पर यौवन का अद्भुत तेज दिखाई दे रहा था । ऐसे एक युगल की ब्रह्मव्रत की प्रतिज्ञा की बात सुनकर मांडवगढ़ की प्रजा तो एक बार स्तब्ध हो गई और अहो भाव से नतमस्तक होकर पेथड़शाह व प्रथमिणी का अभिनन्दन करने लगी ।

जिस वय में मानव विषयों के राग में उन्मत्त होकर डूबा होता है, दुनिया के भोग-सुखों में ही दैविक सुख की कल्पना करता है, ऐसी वय में ब्रह्मव्रत का स्वीकार कोई सामान्य घटना नहीं है । विशिष्ट आत्मबल के बिना इस व्रत की साधना सम्भव नहीं है ।

मांडव गढ़ की समस्त प्रजा के मुख से यही स्वर निकल रहे थे- ''धन्य हो पेथड़शाह । धन्य हो प्रथमिणी ।''

ब्रह्मचर्य की महान् प्रतिज्ञा के स्वीकार की अनुमोदना निमित्त महामंत्री पेथड़ शाह ने समस्त गुजरात व अवन्ती के समस्त ब्रह्मव्रतधारियों को पाँच-पाँच कीमती वस्त्रों के साथ भव्य पीतांबरी भेंट भेजी और इस प्रकार पेथड़ शाह ने चौदह सौ व्रतधारियों का स्वागत किया ।

इस शुभ प्रसंग पर पेथड़ शाह ने 'भीम' श्रेष्ठी को भी याद किया, जिसकी भेंट को प्राप्त कर पेथड़ शाह के दिल में ब्रह्मचर्य व्रत की भावना जगी थी ।

ईर्ष्या की आग

प्रभु महावीर ने कहा है- 'खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ।' कामभोग अनर्थ की खान है । अधिकांश आत्माओं का अधोपतन इसी 'काम' के कारण होता है । जगत् के जीवों को अपने अधीन बनाए रखने के लिए मोहराजा ने 'काम' में एक ऐसा आकर्षण रख दिया है कि उस आकर्षण के कारण अच्छी-अच्छी त्यागी और तपस्वी आत्माएँ भी उसके अधीन बन जाती हैं । इस 'काम' ने तो देव और दानवों को भी अपने अधीन बना लिया है ।

परन्तु हाँ, दुनिया में ऐसे भी सज्जन शिरोमणि सत्त्वशाली पुरुष होते हैं जो अपने सत्त्व के बल से काम को परास्त कर निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं । ऐसे कामविजेता सत्त्वशाली पुरुष देवताओं के लिए भी वन्दनीय बनते हैं ।

32 वर्ष की यौवनवय में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर पेथड़ शाह औऱ प्रथमिणी ने कमाल किया था । मांडव गढ़ की प्रजा उनकी प्रशंसा करते थकती नहीं था ।

जो वस्तु जितनी अधिक कीमती होती है, उसका उतने ही यत्नपूर्वक रक्षण किया जाता है । कीमती रत्न की सुरक्षा के लिए ही तिजोरी बनाई जाती है ।

सभी व्रतों में ब्रह्मचर्य एक महान् व्रत है । इसी कारण महापुरुषों ने इसकी रक्षा-सुरक्षा के लिए एक नहीं किन्तु नौ-नौ बाड़ों का विधान किया है ।

खेत में सामान्य धान्य हो तो काँटों की एक बाड़ की जाती है । परन्तु आम की बाड़ी हो तो उसके लिए काँटों की बाड़ के साथ-साथ एक चौकीदार भी रखा जाता है । बस, इसी प्रकार निर्मल ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ-नौ बाड़ें रखी गई हैं ।

जिस प्रकार धन कमाने के बाद दूसरी जवाबदारी आती है, उसे सुरक्षित रखने की, उसी प्रकार व्रत के स्वीकार के बाद दूसरी जवाबदारी आती है उसके पालन व रक्षण की ।

महामंत्री पेथड़ शाह प्रज्ञावंत सत्पुरुष हैं । व्रत की रक्षा सुरक्षा के लिए वे प्रति पल जागरूक रहते हैं ।

ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करने के साथ ही पेथड़शाह ने तांबूल (पान, सुपारी आदि) का भी त्याग कर दिया ।

'तांबूल, सूक्ष्म वस्त्र, स्त्रीकथा, इन्द्रियपोषण, दिन में निद्रा और अतिक्रोध आत्मा के पतन के कारण हैं ।'

महामंत्री पेथड़शाह अपने से अधिक वयवाली स्त्रियों को माता समान, समान वय वाली स्त्रियों को बहिन समान और अल्प वय वाली स्त्रियों को पुत्री समान मानते थे । पेथड़ शाह मन, वचन और काया को मलिन करनेवाली समस्त प्रकार की वृत्ति-प्रवृत्तियों का त्याग कर अपने ब्रह्मचर्य व्रत का रक्षण करते थे ।

सभी खानों में वज्र की खान सर्वश्रेष्ठ है, वैद्यों में धन्वन्तरि वैद्य, दाताओं में कर्ण, देवियों में लक्ष्मी, पर्वों में दीवाली, अक्षरों में ओंकार, बड़े पदार्थों में आकाश, स्थिर पदार्थों में पृथ्वी और नीति वालों में राम सर्वश्रेष्ठ / परम सीमारूप है, उसी प्रकार सभी व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत परमसीमारूप है ।

विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करने से आत्मा में अनेक प्रकार की लब्धियाँ / शक्तियाँ प्रगट होती हैं । इस प्रकार निर्मल ब्रह्मचर्य के पालन के प्रभाव से पेथड़ शाह का चरण-जल भी औषधरूप बन गया ।

अनेक प्रकार की व्याधियों से संतप्त मनुष्य, पेथड़ शाह के चरण-जल के पान के साथ ही व्याधि-मुक्त बनने लगे । धीरे-धीरे पेथड़ शाह की ख्याति दूर-सुदूर अवन्ती में फैलने लगी और महामंत्री पेथड़ शाह अवन्ती की दुःखी प्रजा के धन्वंतरि से प्रतीत हुए ।

जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से अन्धकार विलीन हो जाता है, उसी प्रकार पेथड़ शाह की दृष्टि पड़ते ही भूत, प्रेत, शाकिनी और व्यन्तर आदि के उपद्रव दूर हो जाते थे । मंत्रीश्वर के चरण-जल के पान के साथ ही ज्वर, उदर-पीड़ा, मस्तक की वेदना, प्रसूति की व्यथा आदि रोग नष्ट हो जाते थे ।

जिस प्रकार दिव्य शस्त्र से शत्रुओं का नाश होता है, उसी प्रकार पेथड़शाह के पहने हुए वस्त्र धारण करने से भी अनेक रोगियों के रोगादि नष्ट

हो जाते थे ।

समय का प्रवाह आगे बहने लगा ।

पेथड़ शाह जैसे कार्यदक्ष और कुशल मंत्री को प्राप्त कर अवन्ती के महाराजा जयसिंहदेव भी अत्यन्त प्रसन्न थे । मंत्रीश्वर की देखरेख में वे प्रजा का न्याय व नीतिपूर्वक पालन करते थे । उनके शासन में प्रजा सुख व चैन का अनुभव करती थी ।

एक दिन महाराजा राजसभा में बैठे हुए थे । तभी एक श्रेष्ठी का आगमन हुआ । महाराजा के चरणों में प्रणाम कर श्रेष्ठी ने महाराजा के करकमलों में अपनी भेंट धरी ।

महाराजा ने वह भेंट स्वीकार की । वे बोले-`अहो ! यह तो दिव्य और अनुपम रेशमी दुशाला है...और अभी इसकी कीमत सवा लाख रुपये है ।'

भेंट स्वीकार करते ही महाराजा को पेथड़शाह की याद आ गई । उन्होंने पेथड़ शाह को बुलवाया और वह दुशाला पेथड़शाह को प्रदान करते हुए बोले-`मंत्रीश्वर ! यह भेंट स्वीकार करो ।''

मंत्री ने कहा-``यह भेंट तो आपको प्रदान की गई है ।'' ``परंतु यह तुम्हारे अंगों पर ज्यादा शोभा देगी, अतः तुम्हें इसे स्वीकार करना ही होगा ।''

राजा के आग्रह के आगे मंत्री कुछ भी नहीं बोल सके और उन्होंने उस वस्त्र की भेंट स्वीकार कर ली ।

मंत्रीश्वर ने सोचा-``वस्त्र अत्यन्त कीमती है, इसमें गुंथनी भी सुन्दर की गई है, अतः परमात्म-पूजा में इसका उपयोग हो तो ज्यादा अच्छा रहेगा ।''

बस, मंत्री ने अपने विचारों के अनुरूप ही उस वस्त्र का परमात्म-पूजा में उपयोग चालू कर दिया ।

समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा ।

एक दिन मांडवगढ़ के महाराजा जयसिंहदेव की मुख्य रानी लीलावती ज्वर की पीड़ा से ग्रस्त हुई । ज्वर की तीव्र पीड़ा के कारण महारानी की देहलता दुर्बल नजर आ रही थी । तुरन्त ही वैद्यों को बुलवाया गया । एक के बाद एक वैद्य आकर नये-नये औषधोपचार करता, परन्तु किसी भी औषध से

महारानी का ज्वर उतर नहीं पा रहा था ।

महाराजा स्वयं दिन में दो बार महारानी की कुशल पृच्छा के लिए आ जाया करते थे और वैद्यों को अलग-अलग सूचना कर दिया करते थे । किसी भी उपाय से महारानी स्वस्थ हो जाय, इसके लिए महाराजा पूर्ण चिंतित थे...परन्तु दुर्भाग्यवश किसी भी उपाय से महारानी की बीमारी दूर नहीं हो पा रही थी ।

महारानी लीलावती के खण्ड में वैद्यों का आवागमन चालू ही था, परन्तु किसी भी उपाय से वह ज्वर उतर नहीं पा रहा था । वैद्य भी हताशा व निराशा का अनुभव कर रहे थे । उनके किये-कराए सभी प्रयत्नों पर पानी फिर रहा था । एक दिन अच्छा रहता तो दूसरे दिन पुनः बुखार आ जाता । महारानी की इस स्थिति के कारण राजमहल के वातावरण में भी शोक की लहर छाई रहती थी ।

महाराजा जयसिंहदेव की एक दूसरी महारानी थी कदंबा । लीलावती के आगमन के पूर्व महाराजा इसी के प्रेमपाश में डूबे रहते थे...परन्तु लीलावती के आगमन के साथ ही महाराजा की दिशा बदल गई । उन्होंने अपनी प्रेम की गंगा लीलावती की ओर बहा दी । इस कारण कदंबा के दिल में रोष की भावना थी, वह लीलावती को अपने सुख के मार्ग में कंटक तुल्य समझ रही थी । 'अरे ! इस लीलावती ने आकर मेरे समस्त सुखों को लूट लिया है । जब तक यह कंटक दूर नहीं होगा, तक तक स्वामी की स्नेहभरी दृष्टि मुझे प्राप्त नहीं होगी ।'

कदंबा ईर्ष्यालु नारी थी । ईर्ष्या एक ऐसी अंतरंग अग्नि है, जिससे संतप्त प्राणी मन-ही-मन जलता रहता है । ईर्ष्यालु व्यक्ति प्राप्त संपत्ति का आनन्द से उपभोग नहीं कर सकता है । उसका मन तो दूसरे को सुखी देखकर जलता ही रहता है ।

ईर्ष्यालु व्यक्ति छिद्रान्वेषी बनता है । वह किसी भी प्रकार से दूसरे को नीचे गिराने की ही चेष्टा करता है । दूसरे को अधिक नुकसान पहुँचाते समय स्वयं को थोड़ा नुकसान भी सहन करना पड़े तो ईर्ष्यालु व्यक्ति थोड़ा नुकसान भी सह लेगा ।

ईर्ष्या के कारण वैभवी वातावरण में भी कदंबा को लेश भी सुख और

शांति नहीं थी । वह सतत लीलावती के प्रत्येक आचरण पर ध्यान रखकर चलती थी...परन्तु उसे ऐसा कोई निमित्त नहीं मिल पा रहा था, जिससे वह लीलावती को पछाड़ सके और उसका स्थान-मान स्वयं ग्रहण कर सके ।

लीलावती का ज्वर अभी भी शांत नहीं हो पा रहा था ।

'पेथड़ शाह का वस्त्र ओढ़ लिया जाय तो महारानी का ज्वर दूर हो सकता है ।' यह बात किसी को याद नहीं आ रही थी ।

अचानक एक दिन भाग्य खुला और लीलावती की प्रिय दासी को पेथड़ शाह के वस्त्र की याद आ गई । वह बोली, ``माताजी ! आज मुझे एक सुन्दर उपाय मिल गया है ।''

महारानी ने पूछा-``बता न जल्दी, कौनसा उपाय है ?''

``माताजी ! उपाय अपने पास ही है और हम बाहर ढूंढ रहे हैं । महामंत्री पेथड़ शाह के वस्त्र में वह ताकत है कि उससे भयंकर से भयंकर रोग भी तत्क्षण दूर हो जाता है । मांडव की प्रजा तो पेथड़ शाह के चरण-कमल का जल-पान कर अपूर्व स्वस्थता का अनुभव कर रही है ।'' दासी ने कहा । ``तो तू जल्दी पेथड़ शाह के घर जा और जल्दी ही मंत्रीश्वर का वस्त्र लेकर आ,'' महारानी लीलावती ने कहा ।

``माताजी ! लो अभी जाती हूँ...'' इतना कहकर वह दासी महामंत्री के महल की ओर चल पड़ी ।

दासी मंत्रीश्वर के महल में पहुँच गई । मंत्रीश्वर किसी कार्यवश बाहर गए हुए थे । मंत्रीश्वर की पत्नी प्रथमिणी घर पर ही थी ।

दासी ने आते ही प्रथमिणी के चरणों में प्रणाम किया । दासी के मुख पर उदासीनता छाई देखकर प्रथमिणी ने अत्यन्त ही सहजता से पूछा, ``उदास क्यों दिखाई दे रही है ? महारानीजी का स्वास्थ्य तो ठीक है न ?''

प्रथमिणी उस दासी को अच्छी तरह से पहचानती थी, अनेक बार महारानी के साथ कार्यकलाप में वही संदेशवाहक का काम करती थी ।

दासी ने कहा, ``देवी ! महारानी काफी अस्वस्थ हैं । बहुत दिनों से महारानीजी ज्वर की पीड़ा से संतप्त हैं, अनेक उपाय किये, परन्तु कहीं सफलता न मिली ।'' आखिर मुझे याद आया-'रोगभंजक-पेथड़ शाह का

वस्त्र' और मैं उस वस्त्र को लेने के लिए दौड़ी आई हूँ ।''

``तेरी भावना उत्तम है, जहाँ श्रद्धा और भक्ति का संगम होता है, वहीं भावना साकार बनती है । तू यहीं बैठ, मैं अभी अन्दर के खण्ड में से वस्त्र लेकर आती हूँ'' इतना कहकर प्रथमिणी भवन के अन्दर के खण्ड में चली गई । प्रथमिणी सीधी स्वामी के खण्ड में आई, परन्तु वहाँ कोई वस्त्र दिखाई नहीं दिया, आज ही सुबह में काफी वस्त्र धुलाई के लिए दे दिये गए थे ।

तुरन्त ही प्रथमिणी देवगृह की ओर आगे बढ़ी और उसकी नजर सवा लाख की कीमत वाले उस दुशाले पर पड़ी.. प्रथमिणी ने तुरन्त ही वह दुशाला उठाया और वह दासी के पास आकर बोली, ``ले, यह स्वामी का वस्त्र है ।''

दासी ने अत्यन्त ही बहुमानपूर्वक वह दुशाला अपने हाथों में ले लिया और प्रथमिणी के चरणों में पुनः प्रणाम कर शीघ्र गति से वह राजभवन की ओर आगे बढ़ने लगी ।

दासी सोचने लगी-``बस, अब उपाय हाथ लग गया है, महारानी सर्वथा रोगमुक्त बन जाएगी ।''

मनुष्य सोचता कुछ और है और प्रकृति को कुछ और ही मंजूर होता है । महारानी की बीमारी के निबारण के लिए ले जाया जाने वाला यह वस्त्र महारानी के लिए कोई आपत्ति का कारण तो नहीं बनेगा न ? इस बात की गन्ध दासी के दिल में भी कहाँ से आवे ? भविष्य के गर्भ में जो छिपा था, उससे वह एकदम अनजान ही थी ।

थोड़ी ही देर में वह दासी महारानी के शयनखण्ड में उपस्थित हो गई । महारानी के चरणों में प्रणाम करती हुई बोली, ``माताजी ! अब आपकी बीमारी दूर हो गई समझो ।'' इतना कहकर दासी ने पेथड़शाह का वह कीमती दुशाला महारानी को ओढ़ा दिया ।

क्षण भर में तो महारानी की देह में अद्‌भुत चमत्कार का अनुभव होने लगा । रात्रि प्रसार हो गई किन्तु महारानी को लेश भी ज्वर न चढ़ा ।

दूसरे दिन प्रातः दासी ने कहा, ``माताजी ! आज ज्वर आने की बारी है, अतः आप यह वस्त्र ओढ़े रखो, इस वस्त्र के प्रभाव से आपका यह

रोग सदा के लिए मिट जाएगा और आप पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकोगी ।''

महारानी ने पेथड़शाह का वह वस्त्र अपने शरीर पर ओढ़े रखा ।

पेथड़शाह के ब्रह्मव्रत के प्रभाव से उस वस्त्र के तंतु-तंतु में वह चमत्कार फैल चुका था । समय बीतने लगा, किन्तु महारानी को लेश भी ज्वर का अनुभव नहीं हुआ । धीरे-धीरे महारानी के मुख पर प्रसन्नता छाने लगी । मुरझाया हुआ वह मुखकमल पुनः खिलने लगा ।

मध्याह्न का समय बीतने लगा । ज्वर ने विदाई ली । किन्तु महारानी को इस बात का कहाँ पता है कि ताप की विदाई अन्य संताप का कारण बन जाएगी ?

मध्याह्न के बाद रानी कदंबा घूमती हुई वहाँ आई । उसने लीलावती के प्रसन्न चेहरे को देखा और पेथड़ शाह के उस कीमती वस्त्र को भी । ईर्ष्या की आग उसके अन्तर को जला रही थी । लीलावती की प्रसन्नता में उसे कहाँ आनंद मिलने वाला था ? वह तो उस कंटक को साफ करने के लिए ही लालायित थी...और अचानक लीलावती की देहलता पर पेथड़शाह का वस्त्र देखकर उसने मन-ही-मन कल्पनाओं का जाल रच लिया । वह खुश हुई कि बस, आज मेरा काम हो गया...सदा के लिए यह कंटक दूर हो जाएगा...काफी समय से इसने मेरे सुख को छीन रखा है...आज क्यों न उन सबका बदला ले लूँ...। विचारों के तीव्र प्रवाह में डूबी हुई वह सीधी जयसिंहदेव के महल की ओर आगे बढ़ी...उसके पैरों में आज उत्तेजना थी...उसका मन आनन्द से भरा हुआ था ।

थोड़ी ही देर में हाँफती हुई वह महाराजा के बैठक खण्ड में पहुँच गई । कदंबा महारानी ने राजा को प्रणाम किया । राजा ने भी उसका अभिवादन स्वीकार किया ।

महाराजा ने कहा-``प्रिये ! तू इतनी हाँफ क्यों रही है ?''

कदंबा ने कहा-``भारी अनर्थ हो गया है...पानी में से आग पैदा हुई है...हे स्वामी ! कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है ? ऐसा अनर्थ कैसे हो गया ।''

``प्रिये ! तू शांत बन । आखिर क्या बात है ?'' महाराजा ने कहा ।

``स्वामिन् ! आज यह बात करते हुए मेरा हृदय खण्डित होता जा

रहा है...रक्षक ही आज भक्षक बना है ।'' रानी ने कहा ।

``प्रिये ! तू स्पष्ट बता, तो आ रही आपत्ति का कुछ निवारण भी हो सके ।'' राजा ने कहा ।

``नाथ ! मैं कहूँगी तो भी आप विश्वास करनेवाले नहीं है ? मेरी बात में आपको विश्वास कहाँ है ? अतः कहना न कहना तो मेरे लिए समान ही है ।'' कदंबा ने मायाजाल गूंथते हुए कहा ।

``प्रिये ! तेरी सत्य बात पर मैंने कब अविश्वास किया है ? जो है सो दिल खोलकर कह ।''

``नाथ ! लीलावती का सतीत्व अब मर चुका है...अब वह सती नहीं रही है ।''

क्या लीलावती...? क्या बात कर रही हो ?...मुझे तो असम्भव लगता है । मेरी प्रिया पर प्रणय दृष्टि करने वाला वह कौन है ? तू जल्दी बता ।'' कहते हुए महाराजा एकदम लाल हो गए ।

राजा के अत्यन्त निकट जाकर कदम्बा बोली, ``नाथ ! आपने लीलावती को गौरवपूर्ण पटरानी का स्थान दिया...और आप उसमें लुब्ध बने...परन्तु वह महारानी तो महामन्त्री पर लुब्ध बनी है । लीलावती रात्रि में उस महामंत्री के साथ क्रीड़ा करती है और दिन में भी उसके प्रिय वस्त्र को छोड़ती नहीं है...यदि आपको विश्वास न हो तो अपनी सगी आँखों से महादेवी के खण्ड में जाकर इस बात की जाँच कर लें ।''

राजा ने आदि से अंत तक महारानी कदंबा की बात सुनी...परन्तु उनके दिल में इस बात पर कोई विश्वास नहीं आ रहा था । फिर भी शंका की दृष्टि से सोचने लगे...`मोह के पाश में अच्छे-अच्छे फँस जाते हैं...ओहो ! पेथड़ ने अपना दुकूल अपनी प्रेमिका को दिया ! जरा, इसकी जाँच तो कर लूँ ।'

इधर जयसिंहदेव ने एक नौकर को बुलवाया और मंत्रीश्वर पेथड़ शाह को राजभवन में आने की आज्ञा फरमाई । वह नौकर तुरन्त ही मंत्रीश्वर के भवन पर पहुँच गया और उसने राजा की आज्ञा मंत्रीश्वर को सुना दी ।

कदंबा ने कहा,-``स्वामिन् ! आप मेरे साथ चलिये ।''

तुरन्त ही राजा तैयार हो गया और लीलावती के खण्ड के पिछले

वातायन की ओर आगे बढ़ा । लीलावती पेथड़शाह के वस्त्र को ओढ़े हुए सोई हुई थी । लीलावती के शयन खण्ड की पिछली ओर की खिड़की कुछ खुली थी ।

महाराजा ने लीलावती की ओर दृष्टिपात किया, तभी कदंबा बोली- ``नाथ ! अब तो आपने अपनी आँखों से देख लिया है न ! देखो, यह रात्रि में तो महामंत्री का संग करती है और अब भी उसके वस्त्र को प्रेम के कारण छोड़ नहीं रही है ।''

बस, दृश्य देखते ही महाराजा की आँखें एकदम लाल हो गईं । ``अहो ! जिसकी प्रसिद्धि मात्र मांडव में ही नहीं, समग्र देश में फैली हुई है, ऐसे मंत्री के हाथ से ऐसा अपकृत्य ! अहो ! जब सागर ही अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन कर देगा तो फिर मर्यादाओं का रक्षण कहाँ होगा ? अरे ! यह तो अमृत में से विष पैदा हो गया । चन्द्र ही आग बरसाने लग गया । वास्तव में कर्म की गति बड़ी विचित्र है । इस 'काम' ने तो अच्छे-अच्छों को परास्त कर दिया है तो उसके आगे मंत्री की क्या ताकत है !''

बस, तत्क्षण राजा ने अपना हाथ कमर पर लटकती तलवार पर रखा और क्रोधावेश में लीलावती को खत्म करने के लिए तैयार हो गया...परन्तु दूसरे ही क्षण सोचने लगा-``अरे ! स्त्री तो अवध्य है । उसकी हत्या करना उचित नहीं है...परन्तु इस पाप को तो दूर करना ही होगा...हाँ । मंत्री के हाथों से ही उसे देशनिकाल की सजा कर दूँ ।'' इस प्रकार सोचते हुए महाराजा अपने बैठक खण्ड में आए और कदंबा अपने भवन में पहुँच कर आनन्द का गीत गाने लगी...``बस, मेरे सुख को छीनने वाली लीलावती, आज तेरा ही अन्त ला देती हूँ ।''

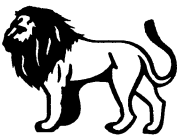

लीलावती का बहिष्कार

मानव की दृष्टि जब शंकाशील हो जाती है तब उसे सत्य भी भयंकर मिथ्यारूप में भासित होता है और झूठी कल्पना भी उसे विशुद्ध सत्य के रूप में प्रतीत होती है ।

इस प्रकार झूठ को सत्य और सत्य को झूठ समझने में भ्रांत बना व्यक्ति उतावल में आकर एक ऐसा अनर्थकारी निर्णय ले बैठता है कि जिसके फलस्वरूप उसे अनेक दिनों तक पश्चात्ताप के आँसू ही बहाने पड़ते हैं और उस समय उसके आँसुओं को पोंछने वाला जब कोई नहीं मिलता है, तब उसकी स्थिति अत्यन्त ही दयनीय बन जाती है ।

महाराजा जयसिंहदेव कदम्बा के मायाजाल में एकदम फँस चुके थे । उनकी दृष्टि भ्रान्त बन चुकी थी । बस, अब किसी भी प्रकार की परीक्षा किए बिना लीलावती के देशनिकाल का निर्णय वे मन-ही-मन कर चुके थे ।

महाराजा अपने बैठक खण्ड में बैठे हुए थे, तभी महामंत्री पेथड़ शाह का आगमन हुआ ।

महामंत्री पेथड़शाह ने महाराजा का अभिवादन किया । परन्तु जो प्रतिभाव महाराजा की ओर से प्रतिदिन मिलता था, आज वह प्रतिभाव महाराजा की ओर से नहीं मिला ।

महाराजा के मुख पर रोष और क्रोध की रेखाएँ स्पष्ट दिखाई दे रही थीं ।

`राजन् ! आपने मुझे याद किया ?' मंत्रीश्वर ने कहा ।

अत्यन्त शुष्क स्वर में राजा ने कहा-``हाँ, मंत्रीश्वर ! एक काम करना है...मैं तुम्हें एक आज्ञा करना चाहता हूँ...उसकी लेश भी चर्चा किये बिना उसको स्वीकार करने का वचन दो तो मैं आज्ञा करूँ ।''

महाराजा के इस प्रकार के वचनों को सुनकर पेथड़ शाह को बड़ा आश्चर्य हुआ । ``अरे ! आज महाराजा इस प्रकार `वचनदान' की बात क्यों कर रहे हैं ?''

मंत्रीश्वर ने कहा, ``राजन् ! आज तक मैंने आपकी किसी भी आज्ञा

का उत्थापन नहीं किया है तो फिर इस प्रकार के वचन की जरूरत ही कहाँ है ? आप जो आज्ञा देंगे, मैं उसका सहर्ष पालन करूंगा...आप स्वस्थ बनें।''

``मैं तो स्वस्थ ही हूँ...आपको मेरी आज्ञा का तुरन्त पालन करना पड़ेगा, समझ गए न !'' राजा के शब्दों में क्रोध का भाव दिखाई दे रहा था।

``महाराज ! आप आज्ञा फरमाइये। यह सेवक आपकी हर आज्ञा के पालन के लिए कटिबद्ध है।'' पेथड़ शाह ने सहजता से जवाब दिया।

``मंत्रीश्वर ! मेरी आज्ञा है कि आप अभी-के-अभी जाकर मेरी ओर से लीलावती को देशनिकाल की सजा फरमाएँ। उसकी देशनिकाल की सभी व्यवस्था आपके कन्धों पर डालता हूँ।'' राजा ने स्पष्ट कह दिया।

``कृपानाथ ! आप यह क्या फरमा रहे हैं ? लीलावती देवी के प्रति इस प्रकार की कठोर आज्ञा का कोई कारण ? आप पुनः सोचें।'' मंत्री ने कहा।

``मंत्रीश्वर ! मैंने सोच-समझकर निर्णय लिया है...इस सम्बन्ध में मैं कुछ सुनना नहीं चाहता हूँ। बस, मेरी जो आज्ञा है, उसका पालन हो...मैं उसका मुख भी देखना नहीं चाहता हूँ'' क्रोधातुर राजा ने कह दिया।

``राजन् ! आप जो कुछ कदम उठा रहे हैं, उस पर अच्छी तरह से पुनः विचार कर लें, फिर आपको पछताना न पड़े...बाकी आपकी आज्ञा तो मुझे स्वीकार्य ही है।'' मंत्री ने कहा।

``महामंत्री ! आज तक आपको मैंने पूरा मान-सन्मान दिया है...इस सम्बन्ध में मुझे कुछ भी पूछने की जरूरत नहीं है। मैं सब जानता हूँ...बस, आप मेरी आज्ञा का पालन करें... मैं चलता हूँ'' राजा के प्रत्येक शब्द में क्रोध की अगनवर्षा हो रही थी।

बस, इतना कहकर महाराजा खड़े हो गए और महल के दूसरे खण्ड में चले गए।

महामंत्री पेथड़शाह को कदम्बा के षड्यंत्र की लेश भी गन्ध नहीं थी, अतः पेथड़ शाह कुछ भी समझ नहीं पा रहे थे कि महाराजा ने महारानी के लिए ऐसी आज्ञा क्यों की ?

महामंत्री पेथड़शाह बुद्धिनिधान थे । वे राजा की वृत्ति-प्रवृत्ति को अच्छी तरह से जानते थे । एक बार महारानी को देशनिकाल की सजा करने के बाद, महाराजा को जब अपनी भूल समझ में आएगी, तब महाराजा की क्या हालत होगी ? उसका कल्पना-चित्र बनाना मंत्रीश्वर के लिए कोई कठिन बात नहीं थी ।

बस, महामंत्री ने मन-ही-मन भावी-सुरक्षा की योजना बना ली और उन्होंने लीलावती के महल खण्ड की ओर प्रस्थान किया ।

महामंत्री ने लीलावती के खण्ड में प्रवेश किया ।

महामंत्री के आगमन के साथ ही पलंग पर सोई हुई लीलावती एकदम बैठी हो गई...तभी महामंत्री ने कहा-``महादेवी ! महाराजा आप पर अत्यन्त रोषायमान लगते हैं ।''

``नहीं मंत्रीश्वर !'' लीलावती के हृदय को कुछ धक्का लगा ।

``महादेवी ! महाराजा ने आपके लिए देशनिकाल की आज्ञां फरमाई है । इसका कारण मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ । आप तैयार हो जायें...नीचे रथ तैयार खड़ा है ।'' मंत्री ने कहा ।

``ओहो...हो ।'' `देशनिकाल की सजा' शब्द सुनते ही महारानी के मुख से एक चीख निकल गई और वे एकदम मूर्च्छित होकर पलंग पर गिर पड़ीं ।

महारानी की इस स्थिति को देखकर मंत्रीश्वर की आँखें अश्रुसिक्त हो गईं । अहो ! कान्यकुब्ज की इस निर्दोष अबला पर इस प्रकार का घोर अत्याचार ! न कोई अपराध का पता है ? सचमुच, विधि ही जब वक्र बनी है, तब कौन समझे ? किसे समझाया जाय ? मंत्रीश्वर के मुख पर ग्लानि छा गई ।

थोड़ी ही देर में लीलावती पुनः होश में आ गई ।

मंत्रीश्वर ने पुनः राजाज्ञा फरमाई-``महारानीजी ! आप तैयार हो जाइए...महाराजा की आज्ञा है...महाराजा ने आपको देशनिकाल की सजा फरमाई है ।''

``मंत्रीश्वर ! मेरा कोई अपराध ?''

``महारानीजी ! इस संबंध में मुझे कुछ भी पता नहीं है, फिर भी आप धैर्य धारण करें । लगता है किसी ने महाराजा के कान भरे हैं ।''

मंत्रीश्वर की बात सुनकर महारानी के मुख पर उदासीनता छा गई। राजाज्ञा का पालन उसके लिए अनिवार्य था, अतः वह शीघ्रातिशीघ्र तैयार हुई...और रथ की ओर आगे बढ़ी।

रथ में आरूढ़ होने में आज कोई आनन्द की बात नहीं थी। महारानी का हृदय टूटे जा रहा था। मंत्रीश्वर भी रथ में बैठे। सारथी ने रथ को तेजी से हंकार दिया। कुछ ही समय में वह रथ राजमार्गों को पार करता हुआ अरण्य की ओर आगे बढ़ गया।

इधर मांडवगढ़ में लीलावती के 'देशनिकाल' के समाचार पवनवेग से चारों ओर फैल गए। इस समाचार से प्रजा में चारों ओर हाहाकार मच गया।

लोग सोचने लगे-``कान्यकुब्ज की कन्या लीलावती तो अत्यन्त ही गुणवती व सन्नारी है, उसके देशनिकाल का क्या कारण होगा ?''

लीलावती को देशनिकाला क्यों दिया गया ? महाराजा ने भी निष्कासन के कारण को गुप्त ही रखा था, अतः कोई भी व्यक्ति रहस्य को न जान सका। लोग अलग-अलग तरह की चर्चायें करने लगे।

लीलावती के देशनिकाल से सभी के मुख पर शोक की गहरी छाया थी...परन्तु एकमात्र आनन्द था-कदम्बा के हृदय में। उसके दिल में हर्ष समा नहीं रहा था...और इस हर्ष के अतिरेक के कारण उसको देखने वाले के दिल में यह शंका उत्पन्न हो जाती थी कि शायद लीलावती के देशनिकाल में कदम्बा ने ही कोई नाटक रचा होगा ?

महामंत्री पेथड़ शाह महारानीजी को भीषण वन में ले जाकर, रात्रि के समय महारानीजी को पुनः अपने महल में ले आए। प्रथमिणी ने महारानी का हार्दिक स्वागत किया। मंत्रीश्वर ने अपने परिवारजनों को सूचना कर दी कि महारानी के यहाँ आगमन की गन्ध कहीं अन्यत्र नहीं जानी चाहिए।

मंत्रीश्वर ने महारानीजी के आवास के लिए ऊपरी खण्ड में बराबर व्यवस्था कर दी थी।

प्रातः होते ही मंत्रीश्वर महाराजा के पास आए और बोले, ``स्वामिन् ! आपकी आज्ञा के अनुसार लीलावती को देश से निष्कासित कर दिया है, उन्हें एक भीषण वन में छोड़कर आ गया हूँ।''

मंत्रीश्वर के मुख से महारानी के देशनिकाल की बात सुन कर महाराजा

के आनन्द का पार न रहा ।

राजा ने सोचा-``अहो ! मंत्रीश्वर ने अपनी प्रेमिका से भी मेरी आज्ञा को अधिक महत्त्व दिया है ।'' इस बात से राजा के दिल में मंत्रीश्वर के प्रति पुनः कुछ प्रेम जागा ।

दिन-पर-दिन बीतने लगे । चार दिन बीत गए...फिर भी चारों ओर चौराहों पर लीलावती के देशनिकाल की ही चर्चाएँ सुनाई दे रही थीं ।

`इस निर्दोष नारी को ऐसी भयंकर सजा फरमाने के पीछे क्या कारण होगा ? कहीं कदम्बा ने तो अपना मायाजाल नहीं रचा है ?' यही बातें चारों ओर सुनाई दे रही थीं ।

इधर मंत्रीश्वर ने लीलावती को पूछा-``महाराजा ने आपका त्याग किया है, इसके पीछे रहे कारण का आपको कुछ पता है ?''

लीलावती ने कहा-``नहीं मंत्रीश्वर ! इस सम्बन्ध में मैं कुछ भी नहीं जानती हूँ ।''

मंत्रीश्वर ने कहा-``मुझे लगता है किसी ने राजा के कान फूंके हैं...समय आने पर सब रहस्य बाहर आ जाएगा ।''

महारानी को आश्वासन देकर मंत्रीश्वर अपने खण्ड में चले गए ।

महारानी अपने खण्ड में अकेली थी । सुकोमल शय्या और शीतल पवन होने पर भी महारानी के दिल में कोई शांति नहीं थी । उसका मन अत्यन्त संतप्त बन चुका था । उसकी वेदना का कोई पार नहीं था । आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी ।

वह सोचने लगी-``अहो ! आखिर मुझ से इतना प्रेम दर्शाने वाले मेरे स्वामी ने मेरा अचानक त्याग क्यों कर दिया ? अरे ! मेरे हृदय में उनके प्रति कितना प्रेम था ! मैंने मन से भी कभी परपुरुष की वांछा नहीं की, कभी...आँख उठाकर किसी के सामने राग भरी दृष्टि से देखा भी नहीं । फिर भी महाराजा की ओर से यह भयंकर सजा !''

``अहो ! विधाता तू इतना निष्ठुर बन गया ! तूने मेरे अपराध को बताया भी नहीं...और इस प्रकार की भयंकर सजा फरमा दी...अरे ! अब तो इस जीवन का भी क्या अर्थ है ? मेरे लिए तो जीवन भी मृत्यु तुल्य ही है ।

अब मैं जीऊँ या मरूँ, इससे महाराजा को कोई मतलब नहीं है । पति से तिरस्कृत नारी के लिए इस संसार में अब स्थान ही कहाँ है ? अरे ! अब तो मेरे लिए मृत्यु ही शरणभूत है । बस, उसी से मैं प्रेम कर सकती हूँ । दुःखियारी जिन्दगी के वर्ष व्यतीत करने के बजाय तो आत्महत्या द्वारा जिन्दगी का अन्त ला देना बेहतर है ।''

''पति के तिरस्कार का दुःख स्त्री के लिए असह्य है...बस, अब आत्महत्या द्वारा उस दुःख का अन्त ला दूँ ?''

इतना विचार कर उसने अपना पल्लू उठाया और उस पल्लू से गले में फाँसा डाल दिया और मनोमन बोला-''ओ स्वामीनाथ ! मैंने क्या अपराध किया है ? इसका मुझे कुछ भी पता नहीं है । आज आपके दिल में अंगारे बरस रहे हैं । परन्तु मेरी आँख में तो आँसू ही हैं । मुझे आत्म विश्वास है कि मैंने कोई अपराध नहीं किया है, फिर भी आपने मुझे सजा दी है तो उस सजा को मैं स्वीकार करती हूँ । मुझे विश्वास है कि मेरी मृत्यु के बाद आपको सत्य स्वरूप का ख्याल आएगा और उस समय आपकी आँखों में भी पश्चात्ताप के आँसू होंगे...परन्तु उन आँसुओं को पोंछने के लिए इस दुनिया में मेरा अस्तित्व नहीं होगा ।''

''मेरी मृत्यु के बाद मेरे शरीर के पाँच भूत मेरे स्वामी के देह में लीन हो जायें, यही मेरी अंतिम प्रार्थना है ।''

इतना कहकर वह पल्लू के फाँसे पर लटकने लगी । धीरे-धीरे कंठ रुंधने लगे...परन्तु प्राणों का वियोग हो, ऐसी पीड़ा का संवेदन नहीं हो पाया, इतने में उस पल्लू के दो टुकड़े हो गए और महारानी धड़ाम से भूमि पर आ पड़ी ।

ऊपर के खण्ड में गिरने की ध्वनि के श्रवण के साथ ही प्रथमिणी दौड़ती हुई ऊपर के खण्ड में आ पहुँची...और लीलावती महारानी के गले में पल्लू के फाँसे को देखकर एकदम हत-प्रहत हो गई । तुरन्त ही उसने महारानी के फाँसे को दूर किया । महारानी मूर्च्छित होकर भूमि पर पड़ी हुई थी । प्रथमिणी ने महारानी की देह पर पानी के छींटे दिये और हवा डाली, चंद क्षणों में महारानीजी होश में आने लगीं ।

होश में आने पर प्रथमिणी ने महारानी को सर्वप्रथम आश्वासन दिया

और सहानुभूति से प्रेम भरे शब्द कहे। तत्पश्चात् प्रथमिणी ने कहा-``महारानीजी ! आपने यह क्या किया ? इस प्रकार आत्महत्या करने से तो अपनी आत्मा को ही भयंकर नुकसान होता है। आत्महत्या तो हत्या से भी भयंकर पाप है। इस प्रकार की पाप-वृत्ति/प्रवृत्ति से सद्गति मिलने के बजाय दुर्गति ही प्राप्त होती है।

``महारानीजी ! जीवन में जो कुछ सुख-दुःख आता है, वह सब अपने ही भूतकाल के कर्मों का फल है। अतः दुःख में भी किसी पर दोषारोपण करना उचित नहीं है। दुःख अपने ही पाप का फल है, अतः दुःख को मिटाने के लिए पाप को मिटाना चाहिए।''

प्रथमिणी की इन तत्त्व सभर बातों से महारानी के मुख पर पुनः तेज प्रगट होने लगा। धीरे-धीरे शोक की छाया मुख पर से दूर होने लगी।

महारानी ने पूछा-``प्रिय सखी ! ऐसा कोई उपाय है, जिससे पाप का नाश किया जा सके।''

प्रथमिणी ने कहा-``हाँ ! महारानीजी ! ***सभी प्रकार के मंत्रों में शिरोमणि-भूत नमस्कार महामंत्र है, जिसका दूसरा नाम पापनाशक मंत्र भी है। उस मंत्र के जाप व ध्यान में पापनाश की शक्ति रही हुई है। अत्यन्त भावपूर्वक इस मंत्र का जाप किया जाय तो आत्मा, अपनी समस्त सिद्धियों को प्रकट करती है। विश्व में सर्वश्रेष्ठ पंच परमेष्ठि-भगवन्तों को इस महामंत्र द्वारा नमस्कार किया जाता है। परमेष्ठि-भगवन्तों को नमस्कार करने से पाप का नाश होता है...पुण्य की वृद्धि होती है। इस महामंत्र के एक-एक अक्षर में एक हजार आठ महाविद्याओं का वास है। इस मंत्र के प्रभाव से भूत, प्रेत, पिशाच आदि के समस्त उपद्रव दूर हो जाते हैं-मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है। चित्त प्रसन्नता को प्राप्त करता है और आत्मा समाधि भाव को प्राप्त करती है।***''

``आप इस महामंत्र का शुद्ध भाव से जाप प्रारम्भ करो और पार्श्वनाथ प्रभु की पूजा प्रारम्भ करो।''

प्रथमिणी की प्रेमभरी व हृदयस्पर्शी वाणी सुनकर महारानी का शोक सर्वथा दूर हो गया। उसका हृदय आनन्द से भर आया।

लीलावती ने कहा-``सखी ! वह मंत्र मुझे प्रदान करो।''

तभी प्रथमिणी ने लीलावती को विधिपूर्वक पंच परमेष्ठि-नमस्कार

महामंत्र प्रदान किया ।

महारानी ने अत्यन्त ही बहुमानपूर्वक उस महामंत्र को स्वीकार किया ।

शरीर की शुद्धि कर व निर्मल वस्त्र धारण कर लीलावती अत्यन्त भावपूर्वक उस महामंत्र का जाप करने लगी ।

जहाँ श्रद्धा और आत्मविश्वास होता है, वहाँ मंत्रशक्ति अवश्य फलदायी बनती है ।

श्रद्धा और भक्तिपूर्वक महामंत्र के जाप के फलस्वरूप लीलावती अधिकाधिक आनन्द का अनुभव करने लगी । उसके रोम-रोम में आनन्द की लहर फैल गई ।

महामंत्र के जाप के प्रभाव से उसे आत्मिक आनन्द की अनुभूति होने लगी । महाराजा द्वारा किये गए अपमान व तिरस्कार को भी वह भूल गई ।

प्रथमिणी प्रतिदिन महारानी को जैनदर्शन के तत्त्वज्ञान का अमृतपान कराने लगी ।

महारानी निरन्तर एकाग्र मन से महामंत्र का जाप व परमात्मा की भक्ति करने लगी ।

आज पेथड़ शाह के भवन में लीलावती के आगमन का पाँचवाँ दिन था ।

लीलावती जाप कर रही थी । महामंत्र के 50000 जाप वह पूर्ण कर चुकी थी । तभी स्वप्न में उसे देवी के दर्शन हुए । देवी ने कहा-``हे पुत्री ! तू निश्चिन्त रह, आज से आठवें दिन महाराजा स्वयं तेरी सेवा में खड़े होंगे ।'' इस प्रकार का वचन देकर देवी अदृश्य हो गई ।

लीलावती के आनन्द का पार न था । देवी दर्शन से नमस्कार महामंत्र पर की उसकी भक्ति अधिक तीव्र बनी ।

प्रथमिणी ने भी समझाया-``महारानीजी ! यह सब धर्म का ही प्रभाव है । यह रात्रि के बाद आने वाले प्रभाव का सूचक-संकेत है ।''

पश्चात्ताप के आँसू !!!

मांडवगढ़ में चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था । चारों ओर से `भागो ! भागो ! दौड़ो ! दौड़ो !' की ही आवाजें सुनाई दे रही थीं ।

महाराजा जयसिंहदेव का पट्टहस्ती `रणरंग' आलान-स्तम्भ को तोड़कर एक पागल की भाँति नगर में घूम रहा था ।

पर्वतसी काया वाला यह हाथी उद्धत होकर नगर में तूफान मचा रहा था । महावत उसे पकड़ने के लिए भरसक प्रयत्न कर रहे थे...परन्तु वह हाथी आज किसी की नहीं सुन रहा था ।

हाथी जिस ओर भागता था, उस ओर भयंकर कोलाहल मच जाता था । लोग अपने प्राण बचाने के लिए तेजी से भाग रहे थे ।

`रणरंग' आगे बढ़ा । सामने ही दारु के पीठे की दुकान थी, वह दुकान के आगे आ गया और जो दारु के घड़े पड़े हुए थे, उन सबको गटगटा गया । एक तो आवेश, दूसरा मदिरा-पान ! फिर तो पूछना ही क्या ? राजा के दृढ़ सैनिक भी `रणरंग' को पकड़ने में असमर्थता का अनुभव कर रहे थे ।

लोगों में यह चर्चा चल रही थी कि राजा ने कान्यकुब्ज की निर्दोष बाला को देशनिकाल की भयंकर सजा दी, कहीं उसी का तो यह परिणाम नहीं ?

`रणरंग' के इस ताण्डव नृत्य के समाचार राजा को मिले । राजा के आश्चर्य का पार न रहा । `अरे यह क्या ! कल तो इतना शान्त था...और अचानक आज उसे क्या हो गया है ?'

राजा ने जब उसके मद्यपान की बात सुनी तो वे और अधिक उद्विग्न हो गए । `रणरंग' महाराजा का पट्टहस्ती था और महाराजा को अत्यन्त ही प्रिय था । महाराजा हरदम उसकी विशेष देखभाल करवाते थे ।

`रणरंग' के इस विनाश के ताण्डव-नृत्य को देखने के लिए महाराजा स्वयं राजभवन में से निकल पड़े ।

महाराजा ने `रणरंग' को देखा । रणरंग की मुखाकृति बदल चुकी थी । वह यम का साक्षात् अवतार लग रहा था ।

नगर में विनाश का ताण्डव-नृत्य करते `रणरंग' नगर के बाहर आया

और बीच में खड़े विशाल वृक्षों को उखाड़-उखाड़ कर फेंकने लगा ।

सामने ही एक वट-वृक्ष था जो भूत-प्रेत से अधिष्ठित था । यदि कोई उस वृक्ष का एक पत्ता भी तोड़ दे तो वह भूत उसे तत्क्षण मार डालता था । उस वृक्ष के नीचे जाने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी ।

'रणरंग' उस वट वृक्ष की ओर आगे बढ़ा और अपनी मजबूत सूंड से वट-वृक्ष को उखाड़ने लगा ।

लोग सोच रहे थे-'बस, अवश्य ही यह हाथी मरा समझो ।'

वट वृक्ष को उखाड़ने की प्रवृत्ति में क्षण-दो-क्षण भी नहीं बीते होंगे कि उसी समय वह धरती पर ढल पड़ा । जोर से गिरने के कारण पृथ्वी भी काँप उठी । 'रणरंग' निश्चेष्ट सा पड़ा हुआ था । चारों ओर लोक-समूह इकट्ठा हो चुका था ।

जयसिंहदेव ने यह दृश्य अपनी आँखों से देखा और तत्क्षण महाराजा भी मूर्च्छित हो गए ।

शीतल जल के छंटकाव से महाराजा होश में आए ।

हाथी को भूत-प्रेत के बन्धन से छुड़ाने के लिए अनेक शांतिकर्म चालू हो गए । किसी ने कहा, 'रणरंग' के शरीर प्रमाण उड़द का ढेर ब्राह्मणों को दान दे दिया जाय तो यह हाथी...।'

बस, तत्क्षण राजा की आज्ञा से उड़द मँगवाकर ब्राह्मणों को दान दे दिया गया ।

परन्तु निष्फलता ही हाथ लगी । किसी को कोई उपाय सूझ नहीं रहा था । सभी के मुख पर एक समान उदासीनता दिखाई दे रही थी । महाराजा को तो चैन नहीं पड़ रहा था ।

हताश बने महाराजा अपने महल में आए । महाराजा की हताशा का कारण जानकर चतुरा दासी ने महाराजा से कहा, ``राजन् ! उपाय तो अपने पास ही है । शील और सदाचार में जिनकी कोई बराबरी नहीं कर सकता ऐसे ब्रह्मव्रत के आराधक महामंत्री पेथड़ शाह का वस्त्र हाथी को ओढ़ाया जाय तो अभी यह हाथी उठ खड़ा होगा ।''

``राजन् ! आपको पता नहीं है, महारानी लीलावती का तीव्र ज्वर ब्रह्म के उपासक पेथड़ शाह के वस्त्र से ही दूर हुआ था । अतः आप मंत्रीश्वर

का वस्त्र हाथी पर ओढ़ाने की व्यवस्था करावें ।''

लीलावती का नाम सुनते ही एक बार तो राजा को लगा कि उस दुष्टा का नाम क्यों लिया ?

परन्तु कुछ भी प्रश्न करने के बजाय महाराजा ने उस दासी को ही मंत्रीश्वर का वस्त्र लाने के लिए उसके घर भेजा ।

डूबता व्यक्ति तिनके का सहारा लेता है, इस उक्ति के अनुसार महाराजा इस प्रयोग को भी अजमा लेना चाहते थे ।

थोड़ी ही देर में वह दासी प्रथमिणी के पास से वह लाल वस्त्र लेकर आ गई, जिसे पेथड़शाह ने पूजा के समय पहना था ।

महाराजा पुनः वट वृक्ष के सामने आ गए । चारों ओर लोगों की अच्छी जमावट थी । तभी महाराजा की आज्ञा से वह वस्त्र हाथी के शरीर पर डाला गया ।

और यह क्या ! दूसरे ही क्षण वह हाथी आलस मरोडते हुए धीरे-धीरे खड़ा होने लगा ।

सभी के आश्चर्य का पार न रहा । निर्मल शील के प्रभाव से भूत-प्रेत का उपद्रव दूर हो चुका था । जिस प्रकार जांगुली मंत्र के प्रभाव से सर्प के विष का प्रभाव दूर हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मव्रत के प्रभाव से हाथी पर आया उपद्रव दूर हो गया ।

अब वह 'रणरंग' हाथी अत्यन्त ही शांत-प्रशांत और स्वस्थ दिखाई दे रहा था ।

'रणरंग' को स्वस्थ देखकर राजा के आनन्द का पार न रहा । परन्तु दूसरे ही क्षण, उनकी आँखें आँसुओं से भर आईं...हृदय वेदना से तड़पने लगा । वे सोचने लगे, 'अहो ! ब्रह्मव्रत के आराधक पेथड़ शाह के वस्त्र से इस हाथी का उपद्रव दूर हो गया...अरे ! उस दासी ने कहा था न ! पेथड़ शाह के वस्त्र को ओढ़ने से लीलावती का ज्वर दूर हो गया था...।'

दासी के शब्द महाराजा के कानों में पुनः पुनः गूँजने लगे और उनका अन्तर पीड़ा का अनुभव करने लगा ।

महाराजा हाथी के जीवन-दान की बात भूल गए । उनकी आँखों के सामने तो कान्यकुब्ज की बाला लीलावती का सौन्दर्य नृत्य कर रहा था ।

`अरे ! मैंने यह क्या किया ? एक निर्दोष अबला पर ऐसा भयंकर कलंक लगाया ? अपने सतीत्व की परीक्षा के लिए मैंने उसे एक अवसर भी नहीं दिया ।'

`अहो ! उस निर्दोष कन्या के साथ मैंने यह कैसा घोर अन्याय किया है ? उस भयंकर पापाचरण के कारण मुझे अब जीने का भी कोई अधिकार नहीं है ।'

महाराजा का हृदय पश्चात्ताप से भर आया था...उनकी आँखों से आँसुओं की धारा निरन्तर बहने लगी ।

वे सोचने लगे-`अहो ! ब्रह्म के परम उपासक महामंत्री पेथड़ शाह के प्रति मैंने कैसी झूठी कल्पनाएँ कीं ? वे कितने निर्दोष और पवित्र हैं जबकि मैंने उनको कितना अधम माना ।''

``मेरे पापी जीवन को धिक्कार हो । अब तो अग्निज्वालाओं में प्रवेश किये बिना इस अपराध की शुद्धि नहीं हो पाएगी ।''

``अरे कदम्बा ! तूने यह क्या कर दिया ? मैं तेरी दुष्टता की कल्पना भी न कर सका । सचमुच, धर्मग्रंथों में जो कहा है कि स्त्री का जीवन अत्यन्त ही छल-कपट व ईर्ष्या से भरा हुआ होता है, मैं उस बात को भूल गया और तेरे जाल में फँस गया ।''

``ओ कदम्बा ! आज तेरी यह पापलीला प्रगट हो गई है...तेरी दुष्टता की सीमा ही कहाँ है ?''

महाराजा अपनी विचार-तरंगों में इतने अधिक डूब चुके थे कि वे आसपास के वातावरण को एकदम ही भूल गए ।

दीर्घ समय से महाराजा को अन्यमनस्क बैठे देखकर मंत्रीश्वर पेथड़ शाह महाराजा के पास पहुँचे और बोले, ``राजन् ! आनन्द के पलों में आपके मुख पर शोक की छाया क्यों ? आपका प्रिय पट्टहस्ती `रणरंग' स्वस्थ हो चुका है । आनन्द के प्रसंग समय आपकी आँखों में आँसू क्यों ?''

``मंत्रीश्वर ! `रणरंग' पुनः जागृत हो गया ?''

``हाँ, महाराज ! मंत्रीश्वर के वस्त्र का स्पर्श पाते ही वह हाथी उठ खड़ा हुआ ।'' मंत्रीश्वर के साथी ने राजा को जवाब दिया ।

मंत्रीश्वर ने कहा-``राजन् ! पधारो, रणरंग की भव्य प्रवेश-यात्रा में

पधारो...सभी प्रजाजन आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।''

''मंत्रीश्वर ! जीवन में कुछ ऐसी अनहोनी घटनाएँ घट जाती हैं, जिस कारण पीछे आँसू ही गिरते हैं'', राजा ने कहा ।

''राजन् ! अब शोक का प्रसंग नहीं है...चारों ओर प्रजा में आनन्द है । आप प्रसन्न बनें, उदासीनता दूर करें ।''

बस, कुछ ही क्षणों में रणरंग के नगर-प्रवेश की तैयारी हो गई ।

स्वयं महाराजा ने मंत्रीश्वर को पट्टहस्ती पर बैठने के लिए आमंत्रण दिया ।

आमंत्रण सुनकर मंत्रीश्वर ने कहा, ''राजन् ! आपकी भावना का मैं आदर करता हूँ, परन्तु हाथी पर नहीं बैठने का मेरा नियम है ।''

मंत्रीश्वर की इस प्रतिज्ञा को सुनकर राजा के आश्चर्य का पार न रहा ।

तुरन्त ही राजा ने मंत्रीश्वर के स्वागत के लिए अपना पट्टअश्व मँगवाया ।

मंत्रीश्वर पट्टअश्व पर आरूढ़ हुआ । महाराजा स्वयं 'रणरंग' हस्ती पर सुशोभित थे ।

चारों ओर वाद्य-यंत्रों के सुरीले स्वरों से वातावरण गूँज उठा था । प्रजा के आनन्द का पार न था ।

महाराजा ने भी उस शुभ प्रसंग पर गरीबों को दान दिया ।

राजसभा में प्रवेश के बाद राजा ने महामंत्री पेथड़शाह का भी हार्दिक स्वागत किया । संध्या समय महामंत्री ने विदाई ली ।

संध्या बीत चुकी थी । महाराजा अपने शयन-खण्ड में गए । वे पलंग पर आराम से न लेट सके । उनकी आँखों से आँसू बहने लगे ।

लीलावती के प्रति जो क्रूरतापूर्ण अन्याय उनके हाथों से हुआ, उसके लिए महाराजा के हृदय में अत्यन्त ही वेदना थी ।

अत्यन्त सुकोमल शय्या पर भी राजा को किसी प्रकार से नींद नहीं आ रही थी । उन्होंने अचानक ही चतुरा दासी को बुलवाया और लीलावती के ज्वर-निवारण सम्बन्धी वास्तविकता की पूछताछ की ।

चतुरा दासी ने कहा-''नाथ ! लीलावती का बुखार किसी तरह से उतर नहीं रहा था, तभी मुझे पेथड़ शाह के वस्त्र की याद आई । पेथड़ शाह के लाल वस्त्र के ओढ़ते ही महारानी का ज्वर दूर हो गया था । परन्तु न जाने

उनसे क्या भूल हो गई ? आपने उनका बहिष्कार कर दिया,'' इतना कहते-कहते चतुरा भी रोने लगी ।

महाराजा को अब विश्वास हो गया कि लीलावती से ईर्ष्या करके ही कदम्बा ने यह मायाजाल रचा था ।

राजा ने चतुरा दासी को विदाई दी । मानव मात्र भूल का पात्र है । भूल के बाद यदि उस भूल का स्वीकार न हो तो वह भूल शूल बन जाती है...और यदि उस भूल को स्वीकार कर दिया जाय तो प्रकृति उसे क्षमा कर देती है ।

महाराजा के खण्ड के बाहर अन्धकार था, परन्तु उनके भीतर ज्ञान का प्रकाश था । वे अपनी भूल का स्वीकार कर रहे थे और पश्चात्ताप की आग में अपनी आत्मा को शुद्ध भी कर रहे थे ।

पाप हो जाने के बाद सच्चे हृदय से उसकी क्षमा-याचना करना शूरवीरता का ही लक्षण है ।

विचारों की अतल गहराई में डुबकी लगाते-लगाते महाराजा ने संपूर्ण रात प्रसार की फिर भी उन्हें संतोष का अनुभव नहीं हो पा रहा था ।

``जब तक मैं पेथड़ शाह मंत्री और लीलावती से क्षमायाचना नहीं कर लूँ, तब तक मुझे शांति नहीं मिलेगी । हाँ, पेथड़ शाह तो सागर हैं, वे मेरी भूल को अवश्य क्षमा कर देंगे । परन्तु लीलावती का क्या ? वह मुझे पुनः कहाँ से प्राप्त होगी ? उससे क्षमायाचना कैसे कर पाऊँगा ?'' राजा की बेचैनी बढ़ती जा रही थी ।

रात्रि व्यतीत हो गई । फिर भी राजा अपने विचारों में ही खोया हुआ था । दिन का एक प्रहर बीत गया । राज-सभा खचाखच भरने लगी । परन्तु महाराजा अभी शयनखण्ड में ही थे ।

महामंत्री पेथड़शाह पर राज्य की बहुत बड़ी जवाबदारियाँ थीं, अतः वे समय पर राजसभा में आ चुके थे ।

मंत्रीश्वर के द्वाररक्षक ने सूचित किया कि अभी तक महाराजा शयनखण्ड से बाहर नहीं पधारे हैं ।

मंत्रीश्वर ने महाराजा के शयनखण्ड में प्रवेश किया । महाराजा अन्यमनस्क होकर गद्दी पर बैठे हुए थे । मंत्रीश्वर ने `प्रणाम' किया, परन्तु

विचारमग्न महाराजा की तल्लीनता भंग नहीं हुई ।

कुछ क्षणों के बाद मंत्रीश्वर ने पुनः महाराजा का ध्यान अपनी ओर खींचना चाहा ।

महाराजा की नजर मंत्रीश्वर की ओर पड़ी तो वे एकदम चौंक उठे । मंत्रीश्वर को नजदीक बुलाकर, उसे अपनी गद्दी पर बिठाकर बोले-``मंत्रीश्वर ! मुझे क्षमा करो ।'' इतना कहते-कहते महाराजा की आँखों में आँसू आ गए ।

मंत्रीश्वर ने कहा-``राजन् ! आप यह क्या कर रहे हैं ? मैं तो आपका चरण-सेवक हूँ ।''

``मंत्रीश्वर ! मैंने आपका भयंकर अपराध किया है ।''

मंत्रीश्वर समझ गए कि महाराजा को लीलावती की याद सता रही है ।

मंत्री ने पूछा-``राजन् ! कौन-सा अपराध ? मुझे तो कुछ भी पता नहीं है ?''

``मंत्रीश्वर ! आप महान् हो । मैंने भयंकर अपराध किया है । मैंने लीलावती और आपके बीच प्रणय की कल्पना की और निर्दोष बाला लीलावती को मैंने देशनिकाल की सजा दे दी ।''

``राजन् ! आपने यह कल्पना कैसे कर ली ?''

``मंत्रीश्वर ! आपके लाल वस्त्र ने ही मेरी आँखों को ठगा और यह ठगने का कार्य उस दुष्टा कदम्बा ने किया । लीलावती के देह पर आपके वस्त्र को देखकर, मैंने झूठी ही कल्पना कर ली अतः मैं आपका अपराधी हूँ, आप मुझे क्षमा कर दें ।''

``राजन् ! आपको अपनी भूल का ख्याल आ गया, यही सबसे बड़े आनन्द की बात है ।''

``नहीं मंत्रीश्वर ! जब तक मैं लीलावती के पास जाकर अपने अपराध की क्षमायाचना न कर लूँ, तब तक मेरी आत्मा को शांति नहीं मिलेगी ।''

``परन्तु राजन् ! महारानी लीलावती को तो आपने देशनिकाल की भयंकर सजा कर दी है । अब उनकी प्राप्ति कैसे सम्भव है ?'' मंत्रीश्वर ने कहा ।

``मंत्रीश्वर ! आप निराश न बनें । आप लीलावती की चारों ओर खोज करवायें, सफलता प्रयत्न के अधीन है । अतः योग्य प्रयत्न होगा तो

जरूर सफलता प्राप्त होगी । जब तक लीलावती प्राप्त नहीं होगी तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा । यह मेरा दृढ़ निर्णय है ।'' राजा ने कहा ।

``राजन् ! आप ऐसा कठोर निर्णय न लें । लीलावती की शोध के लिए मैं भरसक प्रयत्न करूंगा और करवाऊंगा । आपके हृदय की वेदना को मैं अच्छी तरह से जानता हूँ । इस दुष्कर कार्य को सरल बनाने के लिए मेरी एक नम्र विनती है ।''

``कहो ! क्या विनंति है ?''

``राजन् ! पाप के नाश के लिए पुण्य की आवश्यकता रहती है । अतः आप अवन्ती में यह फरमान करें कि कोई भी व्यक्ति पाँच पर्व तिथियों में किसी प्रकार के व्यसन का सेवन न करें । इस प्रकार की व्यसन-मुक्ति से आपका भी पुण्यबल बढ़ेगा और उस पुण्यबल से महारानी लीलावती की प्राप्ति भी सुगम बनेगी ।'' मंत्री ने कहा ।

संसार में जीव को सुख-दुःख देने वाले उसके पुण्य और पाप कर्म ही होते हैं । पुण्य के अतिरिक्त संसार में उसका कोई भी रक्षक नहीं होता । सत्ता में पुण्य हो तो सब सहायक हो जाते हैं और पाप का उदय हो तो सहायक भी दूर चले जाते हैं । संसारी प्राणी पुण्य का फल तो पाना चाहते हैं परन्तु पुण्य क्रियाओं में प्रवृत्ति नहीं करते । पाप का फल कोई भी प्राप्त करना नहीं चाहता परन्तु प्रयत्नपूर्वक पापक्रियाओं में ही यह जीव प्रवृत्ति करता है । फलतः उसे दुःख ही उठाने पड़ते हैं । बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि वे अशुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति छोड़ कर शुभ का आचरण करें क्योंकि-

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ।।

अर्थ :- वन में, युद्ध-भूमि में, शत्रु-जल और अग्नि के बीच में, महासागर में, पर्वत पर, सुप्त दशा में, प्रमत्त दशा में और सभी विषम परिस्थितियों में जीव के पूर्व संचित पुण्य ही उसकी रक्षा करते हैं ।

मंत्री के परामर्श को आदर देते हुए राजा बोला-

``मंत्रीश्वर ! मुझे आपकी बात स्वीकार है । आज ही आप यह फरमान तैयार कर दें और पटहवादकों के द्वारा नगर में उद्घोषणा करवा दें ।''

मंत्री के आग्रह से जयसिंहदेव भोजन खण्ड में गए और इधर मंत्रीश्वर फरमान तैयार करने के लिए अपने खण्ड में चले गए ।

पुनर्मिलन

मंत्रीश्वर के लिखे फरमान को राजा की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी। दूसरे ही दिन नगर के चौराहे पर खड़े होकर पटहवादक उद्घोषणा कर रहे थे।

``प्रजाजनों ! सुनो ! महाराजा की आज्ञा है कि पाँच पर्व तिथियों में मांडवगढ़ में किसी प्रकार के व्यसन का सेवन न हो। जो व्यक्ति राजाज्ञा का भंग करेगा, उसे राजा की ओर से भयंकर दंड मिलेगा।''

अवन्तिदेश में चारों ओर ये पटहवादक घूम-फिर कर महाराजा की आज्ञा की उद्घोषणा कर रहे थे।

राजाज्ञा का भंग न हो, इसके लिए मंत्रीश्वर ने कठोर व्यवस्था भी रखी थी। मंत्रीश्वर की आँखों में आनन्द था, क्योंकि गुरुदेव की त्याग-भावना आज साकार रूप ले रही थी।

मंत्रीश्वर ने जाकर महाराजा से कहा-``राजन् ! आपकी आज्ञानुसार नगर के समस्त क्षेत्रो में 'व्यसन-निषेध' की आज्ञा घोषित करवा दी है।''

``मंत्रीश्वर ! मुझे विश्वास है कि इस पुण्य-प्रभाव से लीलावती की प्राप्ति अवश्य होगी।'' राजा ने कहा।

``राजन् ! महारानी लीलावती की शोध के लिए चारों ओर प्रयत्न चालू ही हैं। अभी तक तो उनकी कोई निशानी प्राप्त नहीं हुई है। परन्तु कल मैं स्वयं महारानी की शोध के लिए वन में जाऊंगा।''

``मंत्रीश्वर ! क्या आप स्वयं जायेंगे ?''

``राजन् ! इसमें आश्चर्य क्या है ? छोड़ने के लिए मैं गया था तो उन्हें लेने के लिए भी पुनः मुझे ही जाना चाहिए न ?''

``आपका निर्णय तो दृढ़ है न ?''

``हाँ, राजन् ! मेरा निर्णय अत्यन्त दृढ़ है। तब तो मुझे विश्वास है कि लीलावती अवश्य प्राप्त होगी।'' राजा ने कहा।

``आपके शुभाशीर्वाद से मुझे अवश्य सफलता मिलेगी।'' इतना कहकर मंत्रीश्वर ने राजभवन से विदाई ली।

महारानी लीलावती मंत्रीश्वर के महल में गुप्त रूप से सुरक्षित थी।

परिवारजन को इस बात की कठोर सूचना थी कि महारानीजी की उपस्थिति की बात बाहर नहीं जानी चाहिए ।

मंत्रीश्वर दूसरे दिन वनप्रदेश की ओर जाने लगे । परन्तु वह वन-गमन एक मात्र दिखावा ही था ।

लीलावती महारानी अत्यन्त ही प्रसन्न थी । प्रथमिणी के मुख से जैन दर्शन के अगम्य-अगोचर पदार्थों का श्रवण कर जिनधर्म के प्रति उसकी श्रद्धा और भक्ति अत्यन्त ही दृढ़ बनी थी ।

मंत्रीश्वर वन-प्रदेश में घूमकर संध्या समय अपने महल में आ गए और फिर रात्रि के प्रथम प्रहर बाद महाराजा के भवन पर पहुँचे ।

मंत्रीश्वर के मुख की प्रसन्नता को देखकर ही राजा ने कल्पना कर ली कि अवश्य ही महारानी की शोध में उन्हें सफलता मिली है ।

राजा ने मंत्रीश्वर का स्वागत करते हुए कहा-``पधारो, मंत्रीश्वर ! आपका हार्दिक स्वागत है...क्या वन-प्रदेश में लीलावती ...?''

महाराजा आगे कुछ बोलें, इसके पूर्व ही मंत्रीश्वर ने कह दिया-``हाँ, महाराज़ ! महारानी लीलावती प्राप्त हो चुकी हैं । आज ही मैं वन गया था और एक गुफा से मुझे महारानीजी की प्राप्ति हुई...वे आपके नाम का सतत जाप कर रही थीं...शील और सदाचार के प्रभाव से वन्य पशु उनका बाल बाँका भी न कर सके । ज्योंही मैंने मांडवगढ़ पधारने की बात की, तत्क्षण वे तैयार हो गईं । उनके मुख पर आपके नाम का ही जाप था, आपके प्रति उनके दिल में लेश भी रोष नहीं है ।''

राजा ने पूछा-``कहाँ है वह लीलावती ?''

मंत्रीश्वर ने कहा, ``राजन् ! वन से लीलावती के साथ आते संध्या हो चुकी थी, अतः मैंने सोचा, रात्रि के समय महारानीजी का महल में प्रवेश ठीक नहीं है, अतः आज महारानीजी मेरे आतिथ्य को स्वीकार कर, मेरे भवन में पधारे हैं । कल सुबह महारानीजी का भव्य-प्रवेश रखा जाय...और आप स्वयं प्रातः मेरे महल में पधारें ।''

लीलावती की प्राप्ति की बात सुनकर राजा के हृदय में आनन्द समा नहीं रहा था । महाराजा ने तुरन्त ही दूसरे मंत्री को बुलाकर समस्त नगर को अलंकृत करने की आज्ञा दी ।

राजा ने मंत्रीश्वर पेथड़शाह का खूब-खूब आभार माना ।

लीलावती को पाने की तीव्र उत्कण्ठा के कारण आज राजा को रात्रि अत्यन्त ही लम्बी प्रतीत हो रही थी ।

महाराजा की आज्ञा से एक रात्रि में ही मांडवगढ़ के राजमार्गों को तोरण-द्वारों, ध्वजाओं, पताकाओं आदि से सुसज्जित कर दिया गया ।

इधर मंत्रीश्वर पेथड़शाह ने अपने महल में आकर महारानीजी को कहा-``महारानीजी ! कल प्रातः महाराजा स्वयं आपके स्वागत के लिए यहाँ पधारने वाले हैं ।''

महारानी के आश्चर्य का पार न रहा । प्रथमिणी की प्रेरणा से महारानी ने `नमस्कार महामंत्र' का 50000 का जाप पूर्ण कर लिया था । नमस्कार महामंत्र के जाप से उसे असीम शान्ति मिली थी । उसके मन की व्याकुलताएँ पूर्णतया दूर हो चुकी थीं । मंत्रीश्वर के महल में रहते हुए ये दिन कैसे निकल गए, उसका उसे कुछ पता ही न चला । वह तो संलग्न थी परमात्म-भक्ति और नमस्कार-महामंत्र के जाप में ।

पूर्व दिशा में अरुणोदय हो चुका था । चारों ओर वाद्ययंत्र के सुरीले संगीत से वातावरण गूँज उठा था । नगरजनों को ज्योंही महारानी लीलावती के नगर-प्रवेश का पता चला, त्योंही उनके आनन्द का पार न रहा ।

चारों ओर से प्रजाजन महारानी लीलावती के दर्शनों के लिए महामंत्री पेथड़ शाह के महालय की ओर उमड़ पड़े ।

महाराजा जयसिंहदेव भी `रणरंग' हस्ती पर आरूढ़ होकर पेथड़ शाह मंत्री के द्वार पर आ चुके थे । पेथड़ शाह ने महाराजा का भव्य स्वागत किया ।

महारानी लीलावती भी पेथड़शाह के भवन से बाहर आई ।

लीलावती और महाराजा के नेत्रों का परस्पर मिलन हुआ । राजा व रानी के हृदय में आनन्द समा नहीं रहा था ।

महाराजा और महारानी दोनों पट्टहस्ती पर आरूढ़ हुए ।

मंगल प्रभात में महाराजा-महारानी की स्वागत-यात्रा प्रारम्भ हुई । धीरे-धीरे स्वागत-यात्रा बढ़ने लगी । उस स्वागत-यात्रा में पेथड़ शाह के उस लाल-दुशाले की ध्वजा फहरा रही थी । महाराजा और महारानी क्रमशः

राजभवन में आए ।

राजभवन में आने के बाद अपने बैठक खण्ड में महाराजा स्वयं महारानी से क्षमायाचना करने लगे-``प्रिये ! मैंने गम्भीर भूल की है...तुम उसे क्षमा कर दो ।''

लीलावती बोली-``स्वामिन् ! आप यह क्या कह रहे हैं ? इसमें आपका कुछ अपराध नहीं है । अपराध तो मेरे कुटिल कर्मों का है । उसी की सजा मुझे भुगतनी पड़ी है । आप तो निर्दोष हैं ।''

``महामंत्रीश्वर की पत्नी प्रथमिणी ने मुझे `महामंत्र' प्रदान किया है और उसने एक ही रात्रि में मुझे जैनदर्शन के तत्त्व का जो अमृतपान कराया है, उसे मैं भूल नहीं सकती ।''

``प्रिये ! मेरे इस कठोर व्यवहार के बाद भी तेरे दिल में मेरे प्रति दुर्भाव पैदा नहीं हुआ, इसके लिए तू धन्य है । बोल, तेरी कुछ इच्छा हो तो कह...मैं उसे पूर्ण करने की कोशिश करूंगा ।'' राजा ने कहा ।

``हे स्वामिन् ! प्रथमिणी के सत्संग से दुनिया के भौतिक पदार्थों की तो मेरी इच्छाएँ ही मर चुकी हैं...परन्तु हाँ ! परमात्म-भक्ति के लिए राजभवन में पार्श्वनाथ भगवान का सुवर्ण बिम्ब बनवाकर उसका भव्य प्रासाद बनवाने की मेरी भावना है ।''

राजा ने महारानी की भावना का हार्दिक स्वागत किया और कुछ ही महीनों में महाराजा के राजभवन में पार्श्वनाथ भगवान का भव्य जिनमंदिर निर्मित हो गया ।

महारानी लीलावती जिनधर्म की उपासिका बन गई । महाराजा जयसिंहदेव भी जिन-धर्म के प्रेमी बन गए...यह सब कुछ महामंत्री पेथड़ शाह के ब्रह्मव्रत का ही प्रभाव था ।

देवगिरि में मंदिर-निर्माण

अन्य अन्य क्षेत्रों में जिनमंदिरों के निर्माण के बाद पेथड़शाह के दिल में देवगिरि में जिनमंदिर-निर्माण का मनोरथ पैदा हुआ ।

देवगिरि में श्री राम नाम के राजा का शासन चल रहा था, वे अत्यंत ही नेक और ईमानदार थे । महाराजा का मंत्री हेमाद्रि ब्राह्मणों का अंध भक्त था । उस अंध भक्ति ने ही उसे जैनों का दुश्मन बना दिया था ।

देवगिरि में शिव मंदिर तो बहुत थे, परंतु जिनेश्वर परमात्मा का एक भी मंदिर नहीं था ।

पेथड़शाह के दिल में खूब उत्कंठा थी कि किसी भी प्रकार से देवगिरि में जिनमंदिर खड़ा हो, परंतु मंदिर-निर्माण का कोई उपाय उन्हें सूझ नहीं रहा था ।

खूब सोच-विचार के बाद मंत्रीश्वर को एक उपाय हाथ लग गया । उन्होंने सोचा दाम भले ही मेरे लगे, परंतु काम तो होना ही चाहिए ।.

खूब गहरे मंथन के बाद उसने अपनी योजना को साकार रूप देने के लिए आचार्य भगवंत धर्मघोषसूरिजी म.सा. का भी मार्गदर्शन प्राप्त किया ।

और एक दिन देवगिरि और मांडवगढ़ के बीच मार्ग में आए ओंकारपुर नगर में एक विशाल जगह खरीदकर एक पांथशाला का निर्माण करा दिया ।

देवगिरि से मांडवगढ़ और मांडवगढ़ से देवगिरि तक हजारों यात्रिकों का आवागमन चालू रहता था ।

सभी यात्रिक उस पांथशाला में विश्राम लेते, वहाँ भोजन और आराम के लिए भी खूब सुंदर व्यवस्था रखी थी । भोजन आदि में किसी प्रकार का भुगतान नहीं था, सब कुछ निःशुल्क था । रोज का जो भी खर्च होता, उसका भुगतान पेथड़शाह महामंत्री स्वयं करते, परंतु उस पांथशाला पर मुख्य नाम की तख्ती तो हेमाद्रि महामंत्री की ही थी ।

घर पर जो भोजन सामग्री नहीं मिलती, वह सामग्री इस पांथशाला में मिलने लगी । इस भव्य पांथशाला की सुगंध चारों ओर फैलने लगी ।

कई बार जब लोग यह पूछते कि यह सब खर्च किसकी ओर से हो रहा है तो नाम बताया जाता हेमाद्रि महामंत्री का ।

बस, चारों ओर हेमाद्रि मंत्री की प्रसिद्धि फैलने लगी ।

इस प्रकार पांथशाला के तीन साल बीत गए ।

चारों ओर फैली हुई हेमाद्रि की कीर्ति की सुगंध जब हेमाद्रि तक पहुँची तो उसके आश्चर्य का पार न रहा । अरे यह क्या ? मैंने तो आज तक ओंकारपुर की पांथशाला के लिए एक पैसे का भी दान नहीं किया है, तो फिर मेरे नाम से यह दान देनेवाला कौन ?

``अरे ! दुनिया में मुफ्त मांगनेवाले तो सैकड़ों मिलते हैं, परंतु यह तो दाम स्वयं के देकर मेरी कीर्ति को उज्ज्वल बनाने वाला माई का लाल कौन है ?''

और एक दिन हेमाद्रि खुद उस पांथशाला के यात्रिक बन गए । वहाँ की सुख-सुविधा और भोजन-व्यवस्था आदि को देखकर हेमाद्रि पानी-पानी हो गए ।

``अहो ! पानी की तरह धन बहानेवाला यह व्यक्ति कौन है ? आखिर हेमाद्रि ने जानकारी करने के लिए व्यवस्थापकों को पूछ ही लिया तो जवाब मिला, `हेमाद्रि ।'

हेमाद्रि ने कहा, ``तुम झूठ बोल रहे हो । हेमाद्रि तो तुम्हारे सामने खडा है । मैंने तो आजतक एक पैसा भी यहाँ नहीं भिजवाया है । सच कहो, यह सब तुम किसकी आज्ञा से कर रहे हो ?''

हेमाद्रि के अति आग्रह करने पर व्यवस्थापकों ने कहा, ``यह तो मांडवगढ़ के महामंत्री पेथड़शाह की आज्ञा से यह खर्च हो रहा है ।''

पेथड़शाह का नाम सुनते ही हेमाद्रि के आश्चर्य का पार न रहा ।

``अहो ! मंत्रीश्वर को मेरी ऐसी क्या जरूरत पडी होगी, जिस कारण वे मेरे नाम से पानी की तरह इतना धन खर्च रहे हैं ? अहो ! आज तक सवा करोड़ का खर्च हो चुका है । धन्य है मंत्रीश्वर को ।''

और दूसरे ही दिन पेथड़शाह मंत्री को मिलने के उद्देश्य से अश्व पर सवार होकर हेमाद्रि मांडवगढ़ पहुँच गए । मांडवगढ़ शहर की भव्य रचना को देख हेमाद्रि खूब-खूब प्रभावित हुए ।

वे सीधे ही महामंत्री पेथड़शाह के महल की ओर बढ़े ।

जैसे ही हेमाद्रि ने पेथड़शाह के महल में प्रवेश किया, त्योंही पेथड़शाह के परिचारकों ने हेमाद्रि का भावभीना स्वागत किया ।

पेथड़शाहने ज्योंही हेमाद्रि को देखा उनके आनंद का पार न रहा, उन्होंने बड़े मान-सम्मान के साथ उनका सत्कार किया ।

योग्य आसन पर बैठने के बाद हेमाद्रि ने पेथड़शाह की क्षेम कुशलता पूछी ।

हेमाद्रि ने कहा, ``ओंकारपुर की पांथशाला में जो कुछ चल रहा है, यह देख मुझे खूब-खूब आश्चर्य हुआ । दाम तुम्हारा और नाम हमारा, यह कैसे ? आखिर इसके पीछे क्या राज है ?''

पेथड़शाह ने कहा, ``बस, दिल में एक कामना थी आपके साथ मैत्री का संबंध जोड़ने की ।''

हेमाद्रि ने कहा ``नहीं, मंत्रीश्वर, मात्र इतने से संबंध के लिए इतनी संपत्ति का व्यय ? यह बात दिल में जमती नहीं है । मेरे योग्य कुछ भी सेवा कार्य हो तो कहो ।

आपने, अपनी संपत्ति का व्यय कर मेरी उज्ज्वल कीर्ति में चार चांद लगाए हैं, उसके लिए मैं आपका खूब-खूब आभारी हूँ । अब मुझे भी कुछ सेवा का अवश्य मौका दे ।''

पेथड़शाह ने कहा, ``वर्षों से मेरे दिल में एक तमन्ना थी देवगिरि में जिनमंदिर खड़ा करने की । और उसके लिए आपकी मदद से मुझे जमीन का योग्य टुकड़ा मिल जाय । बस, इसी भावना से आपके साथ संबंध जोड़ने के लिए मैंने यह आयोजन किया था ।''

उसी समय हेमाद्रि ने कहा, ``अहो ! एक जमीन के टुकड़े के लिए आपने इतना कष्ट उठाया । आप देवगिरि पधारें । देवगिरि की प्रजा आपके स्वागत के लिए समुत्सुक है और आप मनपसंद जगह ग्रहण कर सकोगे ।''

हेमाद्रि के मुख से जमीन देने की बात सुनकर पेथड़शाह की खुशी का पार न रहा ।

पेथड़शाह ने हेमाद्रि का खूब-खूब आभार माना ।

एक सप्ताह की स्थिरता के बाद पेथड़शाह महामंत्री के साथ हेमाद्रि देवगिरि आ गए ।

देवगिरि में जिनमंदिर के योग्य जमीन प्रदान करने में राजा की सहमति जरूरी थी ।

हेमाद्रि मंत्री इस अवसर की राह देख रहे थे ।

एक बार नगर के बाहर जातिवंत घोड़ों का एक व्यापारी आया । उसके पास बहुत से घोड़े थे ।

महाराजा श्रीराम घुड़सवारी के बहुत शौकीन थे, अतः हेमाद्रि मंत्री के साथ वे घोड़े खरीदने के लिए नगर बाहर आ गए ।

बहुत घोड़ों को देखने के बाद महाराजाने हेमाद्रि के कहने से एक घोड़े को पसंद किया । उस घोड़े की विशेषता थी कि नदी पार करने के लिए वह आकाश में उछल सकता था, अर्थात् नदी को एक छलांग में पार कर सकता था ।

60,000/- रुपए देकर महाराजा ने वह अश्व खरीद लिया और एक बार वन भ्रमण के बहाने उस घोड़े पर सवार होकर बड़ी नदी भी पार कर ली ।

अश्वपरीक्षण में मंत्रीश्वर की बुद्धिमत्ता से खुश हुए राजा ने जब वरदान का दान किया तो अवसर देखकर मंत्री ने अपने मित्र के लिए, जैन मंदिर के लिए जमीन के टुकड़े की मांग की ।

तत्काल ही महाराजा ने अपनी सहमति प्रदान कर दी ।

दूसरे दिन अमूल्य भेंट लेकर पेथड़शाह, हेमाद्रि मंत्री के साथ राज दरबार में उपस्थित हो गए । उन्होंने सद्भावपूर्वक महाराजा को प्रणाम किया । मंत्रीश्वर के बाह्य-व्यक्तित्व एवं औचित्य पालन के व्यवहार से महाराजा खुश हो गए ।

पेथड़शाह ने महाराजा को सुवर्ण मुद्राओं के साथ श्रीफल की भेंट दी थी, परंतु महाराजा ने सिर्फ एक श्रीफल ही स्वीकार किया । सुवर्ण मुद्राएँ लेने से इन्कार कर दिया ।

दूसरे दिन महाराजा, हेमाद्रि मंत्री और पेथड़शाह ने नगर की परिक्रमा की । जिनमंदिर के लिए योग्य भूखंड पसंद करने का था...और पेथड़शाह ने नगर के केन्द्र की जगह पसंद की । तत्काल राजा ने अपनी सहमति प्रदान कर दी । उस भूखंड के चारों ओर दीवार खड़ी कर दी गई ।

भूखंड के मालिकों को योग्य मूल्य भी चुका दिया गया ।

जिनमंदिर के निर्माण की भूमिका तैयार देखकर देवगिरि के ब्राह्मणों का अंतर जलने लगा । आज तक इस क्षेत्र में जिनमंदिर-निर्माण के लिए अनेक-अनेक प्रयत्न हो चुके थे, परंतु राजा एवं मंत्री के ही विरोध के कारण आज तक कोई योजना साकार नहीं बन पाई थी, परंतु आज राजा एवं मंत्री ही योग्य जमीन देने के लिए राजी हो गए थे, यह देख ब्राह्मणों के हृदय जल रहे थे, वे समझ नहीं पा रहे थे कि राजा एवं मंत्री के हृदय में अचानक यह परिवर्तन कैसे हो गया ?

और एक शुभ दिन जिनमंदिर की नींव की खनन विधि प्रारंभ हो गई ।

मंदिर की नींव के लिए जमीन को खूब गहराई से खोदा गया...और एक आश्चर्य ! उस नींव में से मीठे पानी का झरना फूट निकला ।

मीठे पानी की बात को जानकर कुछ ईर्ष्यालु ब्राह्मण महाराजा के पास पहुँच गए और निवेदन करने लगे कि नगर में सर्वत्र खारे पानी के कुए हैं, अतः यहाँ मंदिर की नींव में से मीठे पानी का झरना निकला है तो क्यों न यहाँ बावड़ी का निर्माण किया जाय ताकि प्रजाजन को खारे के बदले मीठा पानी मिल सके । मंदिर तो अन्यत्र भी बन सकता है ।

राजा ने उन ब्राह्मणों को आश्वासन दिया कि कल वह स्वयं वहाँ जाकर उस पानी की जाँच कर योग्य निर्णय लेगा ।

राजा और ब्राह्मणों के प्रतिनिधि मंडल के बीच जो वार्तालाप हुआ था उस समय पेथड़शाह के प्रति वफादार हजाम वहाँ उपस्थित था । उस हजाम ने वह वार्तालाप सुन लिया था । पेथड़शाह मंत्रीश्वर का पुण्य जागृत था, अतः हजाम ने जाकर ये समाचार मंत्रीश्वर तक पहुँचा दिये ।

समाचार मिलते ही मंत्रीश्वर के दिमाग में एक विचार बिजली की भाँति कौंध उठा ।

उसी समय उन्होंने मंदिर की नींव के खड्डे में ढेर सारा नमक डलवा दिया । उस नमक के कारण सारा पानी खारा हो गया ।

दूसरे दिन जब महाराजा श्रीराम स्वयं वहाँ उपस्थित हुए, तब मीठे पानी के स्थान पर खारा पानी चख, ब्राह्मणों पर एकदम नाराज हो गए ।

पेथड़शाह की योजना पार पड़ चुकी थी । बस, दूसरे ही दिन से नींव को भरने का कार्य प्रारंभ हो गया । कुछ ही दिनों में मंदिर की नींव भर दी गई और अब मंदिर-निर्माण का कार्य भी चालू हो गया ।

सैकड़ों शिल्पी दिल लगाकर काम करने लगे और मंत्रीश्वर भी खूब उदारतापूर्वक धन बरसाने लगे ।

सिद्धराज के द्वारा सिद्धपुर में निर्मित रुद्रमाल के मंदिर के शिल्पी की 5 वीं पीढ़ी में हुए रत्नाकर नाम के कुशल सूत्रधार के निर्देशानुसार मंदिर-निर्माण का कार्य आगे बढ़ता ही गया...और एक शुभ दिन मंदिर का निर्माण-कार्य समाप्त हो गया ।

प्रभु-प्रतिष्ठा की मंगल वेला नजदीक आ गई । एक शुभ वेला में आचार्य श्री धर्मघोषसूरिजी म. के वरद हस्तों से प्रभु प्रतिष्ठा विधि संपन्न हुई ।

जिन मंदिर में प्रभु की प्रतिष्ठा के साथ अपने हृदय मंदिर में भी प्रभु की प्रतिष्ठा होना बहुत जरुरी है ।

मंदिर में प्रतिष्ठा के बाद हृदय मंदिर में प्रतिष्ठा न हो तो वह प्रतिष्ठा इतना लाभ नहीं करती है ।

प्रभु हृदय सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो जाय तो मोह को दूर हुए बिना छुटकारा नहीं है ।

गिरनार पदयात्रा संघ

विधि-पालन पूर्वक तीर्थ की यात्रा करनेवाला संसार-सागर में भटकता नहीं है । तीर्थमाला की इस महिमा को जानकर पेथड़शाह महामंत्री ने मांडवगढ़ से शत्रुंजय होते गिरनार तीर्थ की यात्रा का संकल्प किया ।

और एक शुभ दिन शुभ वेला में चतुर्विध संघ के साथ पेथड़शाह ने शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा की । मंत्रीश्वर ने दिल खोलकर प्रभु की भक्ति की । दादा के दरबार में पच्चीस धड़ी सोना अर्पित किया ।

शत्रुंजय के दादा की यात्रा कर यह संघ गिरनार की ओर बढ़ा ।

जिस दिन संघ ने गिरनार तीर्थ में प्रवेश किया, उसी दिन दिगंबर संघ का भी आगमन हुआ था...वह संघ दिल्ली से आया था, उस संघ के अधिपति थे संघवी पूर्ण श्रेष्ठी ।

गिरनार की गोद में दोनों संघों का एकसाथ आगमन हुआ था ।

मंत्रीश्वर पेथड़शाह के दिल में आनंद समा नहीं रहा था उन्होंने गिरनार की ओर अपना कदम उठाया ।

पूर्णश्रेष्ठी को थोड़ासा अपमान लगा, इस तीर्थ पर पहले आगमन मेरा हुआ तो पेथड़शाह आगे क्यों बढे ?

पूर्णश्रेष्ठी ने कहा, ``इस तीर्थ पर तो हमारा अधिकार है । यह तो हमारी उदारता है कि श्वेतांबर इस तीर्थ की यात्रा कर सकते हैं ।''

पेथड़शाह को लगा, ``अहो ! यह तो पूर्ण झूठ है । इस तीर्थ पर तो युगों-युगों से हमारा अधिकार रहा हुआ है ।'''

निकट के भूतकाल में ही श्री बप्पभट्टीसूरिजी ने अंबिका देवी के मुख से इस तीर्थ पर श्वेतांबरों का अधिकार बतलाया था ।

'तारेइ नरं व नारीं वा' इस गाथा द्वारा अंबिका देवी ने इस तीर्थ का अधिकार श्वेतांबरों को ही दिया था ।

पूर्णश्रेष्ठी और पेथड़शाह के बीच विवाद बढ़ने लगे ! आखिर कुछ वृद्ध पुरुषों ने आकर समाधान किया कि ऊपर चढ़कर चढ़ावा बोलकर जो संघवी इंद्रमाल पहनेगा, उसका इस तीर्थ पर अधिकार रहेगा ।

दोनों ने इस शर्त को स्वीकार किया । श्वेतांबर और दिगंबर दोनों संघों ने एक साथ गिरनार तीर्थ में प्रवेश किया, इंद्रमाल का चढ़ावा चालू हुआ ।

पाँच धड़ी दस धड़ी सोलह धड़ी, बत्तीस धड़ी ।

आखिर दस दिन का समय दिया गया । पुनः बोली चालू हुई पूर्ण श्रेष्ठी ने अड्ढाईस धड़ी कहा तो तीर्थरक्षा के लिए अपने सर्वस्व का न्योछावर करनेवाले पेथड़ मंत्री ने 56 धड़ी कहा ।

आखिर पूर्ण श्रेष्ठी ने अपनी हार स्वीकार कर ली । मांडवगढ के संघ के आनंद का पार न रहा ।

गिरनार तीर्थ पर नेमिनाथ दादा की साक्षी में पेथड़शाह ने इंद्रमाल पहनी ।

इंद्रमाल पहिन कर पेथड़शाह नीचे उतरे । 56 धड़ी सोने का चढावा बोलने के बाद पेथड़शाह ने देवद्रव्य की समस्त रकम तत्काल चुकाने के लिए मांडवगढ़ से सोना लाने के लिए सांडनियाँ तैयार की ।

मांडवगढ़ व जूनागढ़ के बीच काफी अंतर था । तीव्र रफ्तारवाली सांडनियों को भी लौटने में 2-3 दिन लगने ही वाले थे ।

देवद्रव्य के ऋण से मुक्ति पाए बिना पेथड़शाह ने भोजन लेने से इन्कार कर दिया था ।

इस प्रकार दो दिन व्यतीत हो रहे थे परंतु पेथड़शाह ने भोजन तो क्या पानी की एक बूंद भी नहीं ली थी ।

दूसरे दिन सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व मांडवगढ़ से सुवर्ण लेकर आती हुई सांडनियाँ दिखाई दीं । लोगों ने पेथड़शाह को भोजन के लिए खूब आग्रह किया परंतु जब तक मैं देवद्रव्य के ऋण से पूर्ण मुक्त न बन जाऊँ, तब तक भोजन लेने का मुझे अधिकार नहीं है ।

पेथड़शाह ने 56 धड़ी सोना नेमिनाथ दादा के चरणों में अर्पित कर दिया । सूर्यास्त होने में अब आधी घड़ी बाकी थी परंतु पेथड़शाह ने कहा, ``सूर्यास्त के दो धड़ी पूर्व ही मेरे आहार-पानी के त्याग की प्रतिज्ञा है । अतः अब आहार लेने का प्रश्न ही नहीं है ।''

छप्पन धड़ी सोने के अलावा दूसरे ग्यारह लाख रुपए गिरनार के चरणों में अर्पित कर पेथड़शाह ने गिरनार से विदाई तिलक ली थी ।

श्रुतभक्ति

महामंत्री पेथड़शाह का श्रुत-प्रेम भी कोई कम नहीं था । गुरुमुख से जब उन्होंने श्रुत की महिमा को जाना तो उन्होंने श्रुत के समुद्धार के पीछे भी दान की गंगा बहाई ।

ताड़पत्रों ऊपर श्रुत का आलेखन प्रारंभ कराया । उन्होंने एक ज्ञान भंडार मांडवगढ़ के लिए तो दूसरे छह ज्ञान भंडार भृगु, कच्छ आदि के लिए तैयार कराए ।

पौषधशाला में गुरुमुख से 'गोयमा' एवं 'भयवं' शब्द का पुनः पुनः उच्चारण सुनने के बाद उनके दिल में उस आगम के श्रवण की अभिलाषा पैदा हुई ।

गुरु भगवंत ने इस महान् पंचमांग भगवती सूत्र का परिचय दिया, जिसमें गौतमस्वामी भगवंत के द्वारा पूछे हुए 36000 प्रश्नों के जवाब थे ।

पेथड़शाह की विनती को स्वीकारकर पूज्य गुरु भगवंत ने 7 दिन में संपूर्ण 'भगवती' सुनाया । श्रुतप्रेमी पेथड़शाह ने भी वाचना दरम्यान जब-जब 'गोयम' शब्द आया, तब तब 1-1 सुवर्ण मुद्रा रखकर उस श्रुत का बहुमान किया । इस प्रकार उन्होंने 36000 सुवर्ण मुद्राएँ अर्पितकर भगवती सूत्र के माध्यम से प्रभुवीर की वाणी का अमृतपान किया । वाचना दरम्यान पेथड़शाह ने 7 दिन एकासने किये ।

पेथड़शाह अपनी आवश्यक क्रिया पूज्य गुरु भगवंत के सान्निध्य में ही करते थे ।

अपने नगर में गुरु भगवंत का सान्निध्य न हो तो गुरु भगवंत की शोध कराकर देवसी प्रतिक्रमण दो-दो गाऊ जाकर भी गुरु निश्रा का आनंद लेते थे और पक्खी प्रतिक्रमण के लिए तो गुरु निश्रा पाने के लिए चार-चार गाऊ तक गुरु भगवंत की शोध करते थे ।

प्रतिदिन एक नई गाथा कंठस्थ करने का नियम पू.आ. श्री धर्मघोषसूरिजी म. के पास लिया था, जिस दिन गाथा कंठस्थ न हो, उस दिन संध्या-कालीन भोजन का त्याग करते थे, इस प्रकार उन्होंने 544 गाथा प्रमाण संपूर्ण उपदेशमाला ग्रंथ कंठस्थ किया था ।

अद्‌भुत प्रभु भक्ति

मांडवगढ़ के महामंत्री पेथड़शाह का अपना खुद का एक अति भव्य आलीशान गृहमंदिर था । वे प्रतिदिन सुबह-दोपहर और शाम त्रिकाल पूजा करते थे ।

एक दिन मध्याह्न समय में महाराजा जयसिंह अपने राजभवन में आरामकुर्सी पर बैठे हुए थे । तभी गुप्तचर ने आकर समाचार दिये कि गुर्जरपति सारंगदेव अपने विराट् सैन्य के साथ अवंतिदेश पर आक्रमण करने के लिए तीव्र गति से आ रहे हैं । उनके पास इतनी सूझबूझ और सैन्यबल है कि यदि समय रहते सावधान नहीं हुए तो देश की सीमाओं पर युद्ध खड़ा हो सकता है । समाचार सुनकर महाराजा जयसिंह का क्षत्रिय खून उबल पड़ा । उनकी आँखें क्रोध से लाल हो गईं । तत्काल ही उन्होंने राजदूत को आज्ञा की कि तत्काल महामंत्री को यहाँ बुलाओ, अनिवार्य काम है ।

राजा की आज्ञा होते ही राजसेवक महामंत्री के महल के द्वार पर उपस्थित हो गया । संयोगवश प्रथमिणी द्वार पर ही खड़ी थी ।

राजसेवक ने प्रथमिणी को संदेश दिया कि महाराजा ने महामंत्री को तत्काल राजसभा में आने के लिए आज्ञा फरमाई है ।

राजा की आज्ञा सुनते ही प्रथमिणी ने कहा, ``मंत्रीश्वर तो अभी अपने प्राणाधार प्रभु के साथ प्रीति में लगे हुए हैं । मध्याह्नकालीन उनकी प्रभुपूजा पूरी होने के बाद ही वे राजदरबार में उपस्थित हो सकेंगे, अभी दो-तीन घड़ी का समय लग जाएगा ।''

``परंतु माताजी ! राजा को महत्त्व का काम है, आप मुझे उनसे मिलने दीजिए ।''

प्रथमिणी ने कहा, `मंत्रीश्वर की मुझे सख्त आज्ञा है कि जब मैं प्रभु-भक्ति में लगा होई तब मेरी भक्ति में कभी विक्षेप मत डालना ।'

राजदूत लौट गया । उसने जाकर महाराजा को सारे समाचार दे दिये ।

समाचार सुनकर महाराजा को थोड़ा आघात लगा, उन्होंने दूसरे

राजदूत को तत्काल रवाना किया और मंत्रीश्वर को संदेश कहलाया कि वे राजदरबार में तत्काल उपस्थित हों ।

परंतु इस बार भी वही जवाब मिला, ''पेथड़शाह प्रभुभक्ति में लीन हैं ।'' भक्ति दरम्यान उन्हें कुछ भी संदेश पहुँचाना उनकी दृष्टि में बहुत बड़ा अपराध होगा ।

राजदूत ने जाकर महाराजा को समाचार दिये ।

महाराजा भी असमंजस में पड़ गए । कैसी उसकी भक्ति है ? जरा देखूँ तो सही । और महाराजा खुद कुछ सेवकों के साथ मंत्रीश्वर के महल में उपस्थित हो गए ।

प्रथमिणी ने महाराजा का समुचित सत्कार किया और कहा, ''मंत्रीश्वर अभी प्रभुभक्ति में लीन हैं । अब कुछ ही देर में यहाँ उपस्थित हो जाएंगे ।''

महाराजा को लगा, ''कैसी उसकी प्रभुभक्ति है ? आज तो प्रत्यक्ष ही देख लेता हूँ ।''

महाराजा बैठक खंड को छोड़कर पेथड़शाह के गृहमंदिर की ओर बढ़े ।

मंदिर की भव्यता देखकर उनका मन मयूर नाच उठा । महाराजा ने मंदिर में प्रवेश किया । उन्होंने देखा कि पेथड़शाह प्रभु के सामने बैठे हैं और पुष्प पूजा में लीन बने हुए हैं ।

पेथड़शाह विविध ऋतुओं के विविध पुष्पों से प्रभु का शणगार कर रहे थे । पास में ही मंत्रीश्वर को क्रमशः फूल देने के लिए एक सेवक बैठा हुआ था, जो मंत्रीश्वर की पसंदगी के अनुसार एक-एक फूल मंत्रीश्वर को दे रहा था । पीछे महाराजा मंत्रीश्वर के एकदम नजदीक पीछे आकर खड़े हो गए ।

मंत्रीश्वर की अद्‌भुत प्रभुभक्ति की तन्मयता देखकर वे मंत्रीश्वर पर मुग्ध हो गए ।

महाराजा ने मंत्रीश्वर के पास बैठे सेवक को खड़े होने का इशारा किया और उसके स्थान पर खुद महाराजा बैठ गए और वे खुद मंत्रीश्वर को फूल देने लगे ।

परंतु यह क्या ? थोड़ी ही देर में जब फूलों की पंक्ति समाप्त हो गई

तो महाराजा सोच में पड़ गए...अब कौनसा फूल देना है ?

तत्काल फूल नहीं मिलने से मंत्रीश्वर ने थोडे ठपके के स्वर में कहा- कहाँ ध्यान है ? इतना कहकर जैसे ही उन्होंने पीछे मुड़कर देखा तो अपने सेवक के स्थान पर वहाँ महाराजा को बैठे देखकर वे आश्चर्यचकित हो गए ।

मंत्रीश्वर ने कहा, ``आप यहाँ कहाँ से ?''

``मंत्रीश्वर ! तुम्हारे दिल में रही प्रभुभक्ति को जानने की इच्छा से ही, तुम्हारी परीक्षा के लिए यहाँ आया था...तुम इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हो । ऐसी प्रभुभक्ति मैंने कहीं देखी नहीं है ।''

बस, तुम अपना कार्य पूरा करके आना । इतना कहकर महाराजा मंदिर से बाहर आ गए । महाराजा अपने राजभवन में पहुँच गए ।

परमात्मा की पूजाविधि पूर्णकर पेथड़शाह भी राजदरबार में आ गए । तत्काल मंत्रणाविधि पूर्ण कर महाराजा की ओर से एक संधि-वाहक दूत को रवाना किया गया । उस दूत ने जाकर सारंगदेव को समाचार पहुँचाए ।

संधिवाहक के मुख से समाचार सुनकर सारंगदेव ने तत्काल संधि-पत्र पर अपने हस्ताक्षर कर दिये । सारंगदेव ने भी अवंति की दिशा बदल दी और वे गुजरात की ओर आगे बढ़ गए ।

जयसिंह महाराजा को जब दूत ने आकर `संधि पत्र' दिया तो महाराजा के भी आश्चर्य का पार न रहा ।

卐 卐 卐

पेथड़शाह की काया पर जरावस्था का आक्रमण प्रारंभ हो चुका था, परंतु उनका मनोबल अत्यंत ही दृढ़ था । वर्षों तक मंत्री पद के भार को वहन करते हुए उन्होंने जिनशासन के सभी भागों की अपूर्व सेवा की ।

जिसके रोम-रोम में शासन के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रम रही हो, उस आत्मा के लिए मृत्यु `महोत्सव' रूप बने, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ।

और एक शुभ दिन बाह्य भौतिक जगत् के प्रति रहे ममत्व भाव का विसर्जन कर मंत्रीश्वर पेथड़शाह समत्व भाव की निर्मल साधना से अपनी आत्मा को पावन बनाते हुए मृत्यु शय्या पर सो गए । जगत् के सभी जीवों के

साथ हृदय से क्षमायाचना कर अपने जीवन में हुए दुष्कृतों की निंदा और अरिहंत आदि चार की शरणागति को स्वीकार कर उन्होंने इस दुनिया से सदा के लिए चिर विदाई ले ली ।

मंत्रीश्वर के वियोग में मांडवगढ़ की समाप्त प्रजा ने 'अनाथ बन गए' की अनुभूति की और उन्होंने अत्यंत ही सद्भाव पूर्वक श्रद्धा सुमन अर्पित किए ।

पू. पंन्यासप्रवर श्री रत्नसेनविजयजी गणिवर्य का हिन्दी साहित्य

1. वात्सल्य के महासागर
2. सामायिक सूत्र विवेचना (तृतीय आवृत्ति)
3. चैत्यवन्दन सूत्र विवेचना (द्वितीय आवृत्ति)
4. आलोचना सूत्र विवेचना
5. श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र विवेचना
6. कर्मन् की गत न्यारी
7. आनन्दघन चौबीसी विवेचना
8. मानवता तब महक उठेगी
9. मानवता के दीप जलाएं
10. जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है
11. चेतन ! मोहनींद अब त्यागो
12. युवानो ! जागो
13. शांत सुधारस-हिन्दी विवेचना भाग-1
14. शांत सुधारस-हिन्दी विवेचना भाग-2
15. रिमझिम रिमझिम अमृत बरसे
16. मृत्यु की मंगल यात्रा
17. जीवन की मंगल यात्रा
18. महाभारत और हमारी संस्कृति-1
19. महाभारत और हमारी संस्कृति-2
20. तब चमक उठेगी युवा पीढी
21. The Light of Humanity
22. अंखियाँ प्रभुदर्शन की प्यासी
23. युवा चेतना
24. तब आंसू भी मोती बन जाते है (द्वितीय आवृत्ति)
25. शीतल नहीं छाया रे...(गुजराती)
26. युवा संदेश
27. रामायण में संस्कृति का अमर सन्देश-1
28. रामायण में संस्कृति का अमर सन्देश-2
29. श्रावक जीवन-दर्शन (तृतीय आवृत्ति)
30. जीवन निर्माण
31. The Message for the Youth
32. यौवन-सुरक्षा विशेषांक
33. आनन्द की शोध
34. आग और पानी (समरादित्य चरित्र) भाग-1
35. आग और पानी (समरादित्य चरित्र) भाग-2
36. शत्रुंजय यात्रा (द्वितीय आवृत्ति)
37. सवाल आपके जवाब हमारे
38. जैन विज्ञान
39. आहार विज्ञान
40. How to live true life ?
41. भक्ति से मुक्ति (पांचवी आवृत्ति)
42. आओ ! प्रतिक्रमण करे (चौथी आवृत्ति)
43. प्रिय कहानियाँ
44. अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव
45. आओ ! श्रावक बने
46. गौतमस्वामी-जंबुस्वामी
47. जैनाचार विशेषांक
48. हंस श्राद्ध व्रत दीपिका
49. कर्म को नहीं शर्म
50. मनोहर कहानियाँ
51. मृत्यु-महोत्सव
52. Chaitya-Vandan Sootra
53. सफलता की सीढ़ियाँ
54. श्रमणाचार विशेषांक
55. विविध-देववंदन (चतुर्थ आवृत्ति)
56. नवपद प्रवचन
57. ऐतिहासिक कहानियाँ
58. तेजस्वी सितारें
59. सन्नारी विशेषांक
60. मिच्छामि दुक्कडम
61. Panch Pratikraman Sootra
62. जीवन ने तुं जीवी जाण (गुजराती)
63. आवो ! वार्ता कहुं (गुजराती)
64. अमृत की बुंदे
65. श्रीपाल मयणा
66. शंका और समाधान (तृतीय आवृत्ति)
67. प्रवचनधारा
68. धरती तीरथ'री
69. क्षमापना
70. भगवान महावीर
71. आओ ! पौषध करें

62. जीवन ने तुं जीवी जाण (गुजराती)
63. आवो ! वार्ता कहुं (गुजराती)
64. अमृत की बुंदे
65. श्रीपाल मयणा
66. शंका और समाधान (तृतीय आवृत्ति)
67. प्रवचनधारा
68. धरती तीरथ'री

80. क्रोध आवाद तो जीवन बरबाद
81. जिनशासन के ज्योतिर्धर
82. आहार : क्यों और कैसे ?
83. महावीर प्रभु का सचित्र जीवन
84. प्रभु दर्शन सुख संपदा
85. भाव श्रावक
86. महान ज्योतिर्धर
87. संतोषी नर-सदा सुखी
88. आओ ! पूजा पढाएँ !
89. शत्रुंजय की गौरव गाथा
90. चिंतन-मोती
91. प्रेरक-कहानियाँ
92. आई वडीलांचे उपकार
93. महासतियों का जीवन संदेश
94. श्रीमद् आनंदघनजी पद विवेचन
95. Duties towards Parents
96. चौदह गुणस्थान
97. पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन
98. मधुर कहानियाँ
99. पारस प्यारो लागे
100. बीसवीं सदी के महान् योगी
101. बीसवीं सदी के महान् योगी की अमर-वाणी
102. कर्म विज्ञान
103. प्रवचन के बिखरे फूल
104. कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन
105. आदिनाथ-शांतिनाथ चरित्र
106. ब्रह्मचर्य
107. भाव सामायिक
108. राग म्हणजे आग (मराठी)
109. आओ ! उपधान-पौषध करें !
110. प्रभो ! मन-मंदिर पधारो
111. सरस कहानियाँ
112. महावीर वाणी
113. सदगुरु-उपासना
114. चिंतन रत्न
115. जैन पर्व-प्रवचन
116. नींव के पत्थर
117. बिखुरलेले प्रवचन मोती
118. शंका-समाधान भाग-2
119. श्रमण शिल्पी श्रीमद् प्रेमसूरीश्वरजी
120. भाव-चैत्यवंदन
121. Youth will shine then
122. नव तत्त्व-विवेचन
123. जीव विचार विवेचन
124. भव आलोचना
125. विविध-पूजाएँ
126. गुणवान् बनों
127. तीन-भाष्य
128. विविध-तपमाला
129. महान्-चरित्र